पच्चीस बोल

का स्तोक

(जैन तत्व ज्ञान)

णमो सुअस्स

प्रकाशक

श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस

12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग,

गोल मार्किट, नई दिल्ली

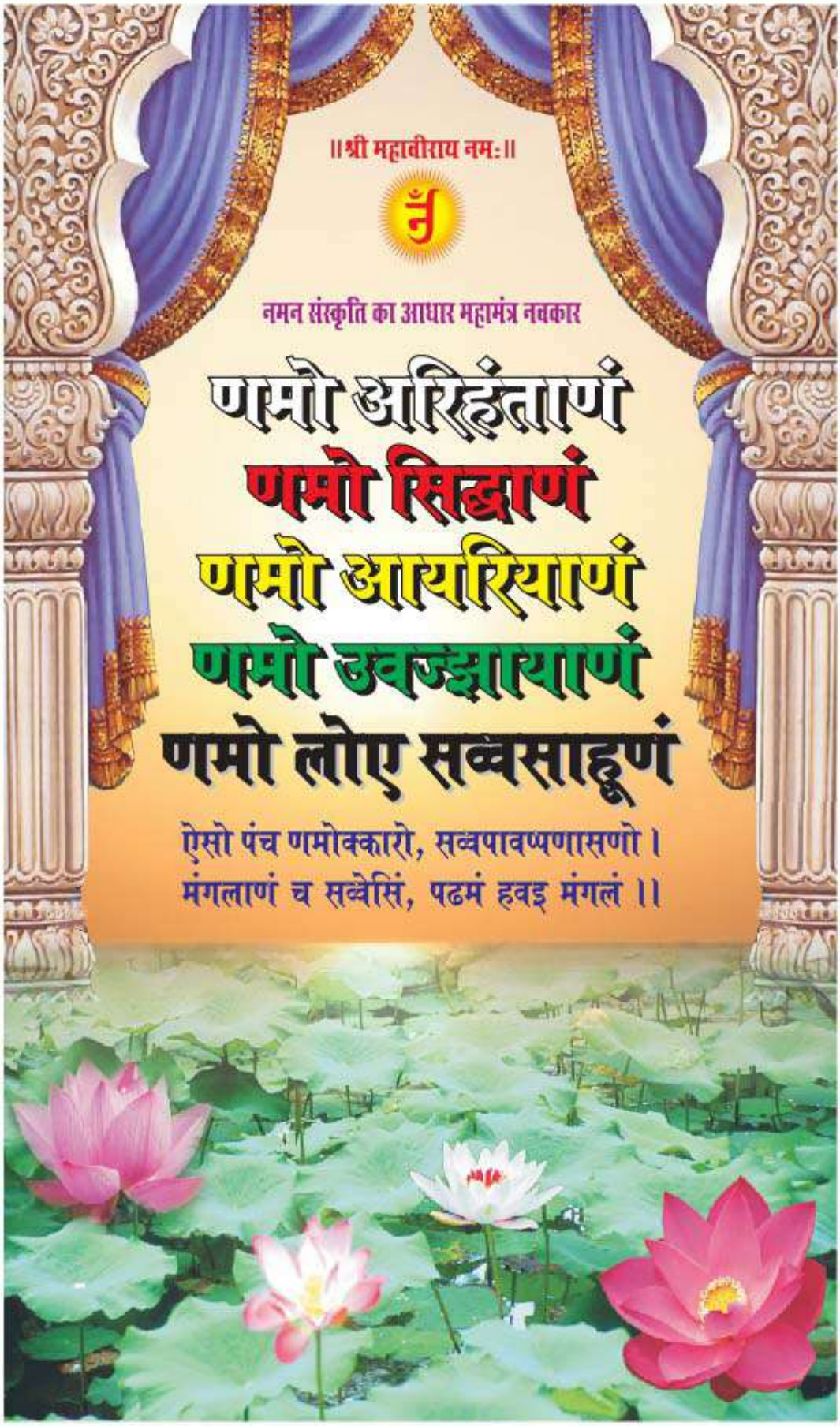
॥श्री महावीराय नमः॥
ॐ
नमन संस्कृति का आधार महामंत्र नवकार
णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

।। जय महावीर ।।

।। णमो सुअस्स ।। जय श्रमणसंघ ।।

पच्चीस बोल का स्तोक

(जैन तत्व ज्ञान)

मंगलमय आशीष

जैन धर्म दिवाकर, ध्यान योगी, आचार्य सम्राट

पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

व्याख्याकार

विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि जी म. 'शास्त्री'

प्रकाशक :

श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस

12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग, नई दिल्ली

फोन : 011-23363729, 23365420

मो. : 7289900012

E-mail : aissjc1906@gmail.com

Website : www.jainconference.org

श्रुत संवर्धन समिति : प्रकाशन पुष्प–2

पुस्तक	:	पच्चीस बोल का स्तोक
मंगलमय आशीष	:	जैन धर्म दिवाकर, ध्यानयोगी आचार्य सम्राट पूज्य श्री शिव मुनि जी म.
व्याख्याकार	:	विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि जी महाराज 'शास्त्री'
प्राप्ति स्थान	:	स्थानकवासी जैन धार्मिक साहित्य एवं उपकरण भण्डार (श्रुत संवर्धन समिति द्वारा स्थापित) श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस 12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग, नई दिल्ली
संस्करण	:	सितम्बर 2022 (2000 प्रतियां)
मूल्य	:	50 रुपये (लागत मात्र)
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन, दिल्ली मो. 9210480385

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

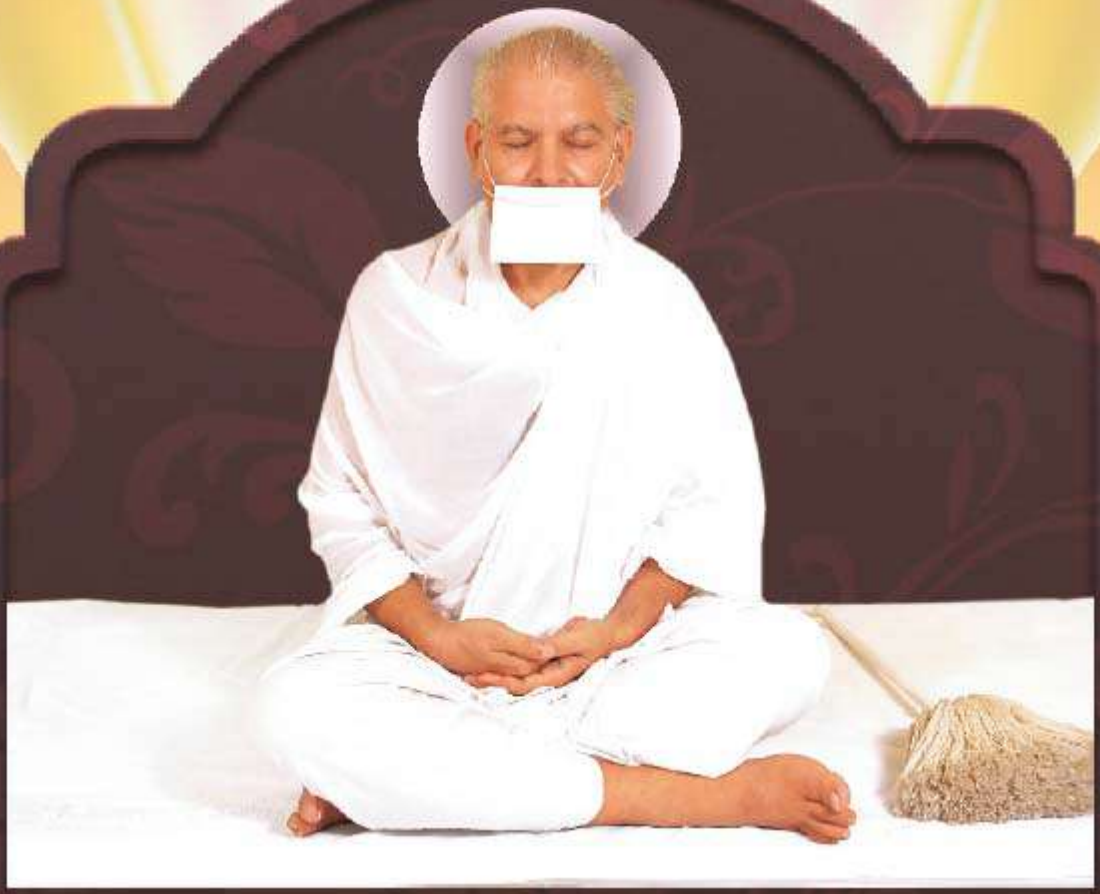

आत्मोद्यान में पल-पल
अप्रमत्त-विहरमान अरिहन्त-स्वरूप
राष्ट्रसंत, ध्यानयोगी
युगप्रधान आचार्य सम्राट

पूज्य श्री शिव मुनि जी म.

के कृपा-पूर्ण पाणि-पल्लवों में
सादर-सश्रद्ध समर्पित!

-श्रुत संवर्धन समिति
श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी
जैन कॉन्फ्रेंस

श्रमणसंघ-नायक : संघ-सारथी

श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर
जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट
श्री आत्माराम जी महाराज

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर
आनन्द महोदधि आचार्य सम्राट
श्री आनन्दऋषि जी महाराज

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर
साहित्य सुमेरु आचार्य सम्राट
श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज

श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर
ध्यानयोगी आचार्य सम्राट
श्री शिव मुनि जी महाराज

श्रुत-सौजन्य लाभार्थी

युवारत्न
हर दिल अज़ीज
श्री अतुल जी जैन

श्री अतुल जैन, केवल दिल्ली महानगर में ही नहीं, अपितु अखिल भारतीय स्तर पर जैन जगत में अपनी विशिष्ट पहचान रखने वाले एक कर्मठ कार्यकर्त्ता, कुशल नेता और आदर्श व्यक्तित्व हैं। इन्होंने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ, अदम्य साहस, अनवरत श्रम और नि:स्वार्थ सेवा-भाव से सामाजिक और व्यापारिक क्षेत्र में बुलंदियों का स्पर्श किया है। सामान्य लोगों के लिए सुमेरु तुल्य प्रतीत होने वाले कठिन और बृहद् कार्यों को भी ये हंसते-हंसते सहज भाव से सम्पन्न करने की कला में कुशल हैं। इनके विनम्र और शालीन व्यक्तित्व में ऐसी कशिश है कि समाज के हर वर्ग का व्यक्ति इनका मुरीद हो जाता है। इन्होंने सेवा को अपने जीवन का मिशन बनाया है। तन, मन, धन से सेवा-कार्यों में ये सदैव स्वयं को प्रथम पंक्ति में प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि श्रावक-श्राविका समाज के साथ-साथ श्रमण-श्रमणी वर्ग से भी इन्हें प्रभूत आशीष और अनुशंसाएं प्राप्त होती रही हैं।

दिनांक 15.5.1973 को सुश्रावक श्री जयप्रकाश जी जैन एवं श्रीमती ऊषा देवी जैन के आंगन में श्री अतुल जैन का जन्म हुआ। उच्च शिक्षा सम्पन्न कर इन्होंने व्यावसायिक क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रामाणिकता, सत्य-निष्ठा और मधुर स्वभाव के कारण इन्होंने स्वल्प समय में ही व्यावसायिक क्षेत्र में प्रभूत सफलताएं अर्जित

की। वर्तमान में व्यावसायिक जगत में इनका नाम ही इनकी पहचान है।

अनन्त वत्सला मातृ भगवती ऊषा देवी जैन के सेवा- संस्कार एवं बड़े पिता भामाशाह-विरुद-विश्रुत महामना श्री आनन्द प्रकाश जी जैन की विराट उदारता श्री अतुल जैन के जीवन में अक्षरश: अवतरित हुई है।

सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक, प्रत्येक क्षेत्र में ये बढ़-चढ़ कर अपनी उदार सेवाएं प्रदान करते हैं। इनकी एक विशिष्टता है। वह है- ये नाम को नहीं, बल्कि काम को, सेवा को प्राथमिकता देते हैं। समाज-कल्याण के कितने ही कार्यक्रमों में इनकी अधिकांश मौन-सेवाएं निरंतर चलती रहती हैं। ऐसे नाम-निरपेक्ष व्यक्तित्व समाज में कम ही हैं।

अनेक प्रमुख संस्थाओं ने श्री अतुल जैन को अपने साथ जोड़कर इनकी सेवाओं को सम्मानित किया है। श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस के राष्ट्रीय युवा अध्यक्ष, प्रांतीय अध्यक्ष एवं राष्ट्रीय उपाध्यक्ष जैसे गरिमामयी पदों को पूर्व में ये सुशोभित कर चुके हैं। वर्तमान में ये जैन सेवा फाउण्डेशन, नई दिल्ली के फाउण्डर चेयरमैन पद पर रहकर समाज-सेवा कर रहे हैं। अन्य अनेक संस्थाओं में भी ये विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित हैं।

ऐसे सुसंस्कारित और उदार व्यक्तित्व नि:संदेह मानवता के मंदिर के शिखर-स्वर्ण-कलश तुल्य हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का सौजन्य भी इन्होंने बड़े उच्च भावों से वहन किया है। वस्तुत: शिक्षा और स्वाध्याय के प्रचार-प्रसार में इनकी गहरी रुचि है। अतीत में भी इनके सौजन्य से अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है।

इनके इस उदार सौजन्य के लिए 'श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस की ओर से हार्दिक कृतज्ञता! शुभानुशंसा!!

-प्रकाशक

अध्यक्षीय उद्‌गार

यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि स्वल्प समय में ही 'श्रुत संवर्धन समिति' के दिशा-दर्शन में दूसरी पुस्तक तैयार हुई है। '25 बोल का स्तोक (थोकड़ा)' जैन तत्वज्ञान का सूत्र रूप में एक श्रेष्ठ संकलन है। आगम-ज्ञान में प्रवेश के लिए यह स्तोक द्वार तुल्य है। जैसे द्वार के बिना दुर्ग या महल में प्रवेश संभव नहीं है, उसी प्रकार 'पच्चीस बोल' के ज्ञान के बिना जैन धर्म-दर्शन को समझना सरल किंवा संभव नहीं है।

माननीय श्री रमेश भण्डारी जैन - इन्दौर (चेयरमैन), विद्वद्‌मनीषी डॉ. अमितराय जैन - बड़ौत (संयोजक), स्वाध्याय-निष्ठ श्री दिनेश कुमार जैन - चांदनी चौक, उदारमना श्री अतुल जैन - दिल्ली समाजसेवी श्री प्रशांत महेश जैन - दिल्ली एवं सेवाभावी श्री सुधीर जैन, कोटा, राजस्थान – ये सभी एकाग्रभाव से संघ-समाज में श्रुत के प्रचार-प्रसार के लिए कृत् संकल्पित हैं। साथ ही जैन कॉन्फ्रेंस के कार्यकारी महामंत्री श्री राजीव जैन 'सी.ए.' भी इस कार्य में विशेष रुचि ले रहे हैं।

सभी पाठकों से अनुरोध है कि श्रुत संवर्धन के इस मिशन में हमारा मार्गदर्शन करें, अपने अमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराएं ताकि इस कार्य को और अधिक सुष्ठु रूप से हम आगे बढ़ा सकें।

–आनन्दमल छल्लानी जैन
राष्ट्रीय अध्यक्ष
श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस

प्रस्तावना

शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए जिनवाणी का स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और आराधन आवश्यक है। जिनवाणी का शाश्वत और विशाल ज्ञान आगम साहित्य में उपलब्ध है। लेकिन आगमों का अध्ययन करना और उसके गूढ़ रहस्यों को आत्मस्थ करना, सामान्य पाठकों के लिए सरल नहीं है। जिस प्रकार किसी भी भाषा को जानने के लिए उसकी वर्णमाला, (अ, आ, इ अथवा A, B, C आदि) का ज्ञान होना अनिवार्य है, उसी प्रकार आगम साहित्य के अध्ययन के लिए स्तोक (थोकड़ा) साहित्य का ज्ञान आवश्यक है।

'स्तोक-विधा' जैनाचार्यों का एक अनुपम अनुसंधान है। तत्वदर्शी विद्वान आचार्यों ने प्रचुर संख्या में स्तोकों की रचना की। वर्तमान में सैकड़ों स्तोक जैन परम्परा में प्रचलित हैं। उनमें 25 बोल का स्तोक प्रमुख और प्रधान है। आगमों में वर्णित सभी प्रमुख विषयों का इस स्तोक में बीज रूप में संकलन किया गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि गागर में सागर की भांति विशाल श्रुतराशि इस स्तोक में संचित / संकलित है।

इसमें संदेह नहीं है कि इस स्तोक का स्वाध्याय करने से, इस पर श्रद्धान करने से हमारे जीवन में जिनवाणी का शुद्ध स्वरूप प्रकट होगा।

श्रुत संवर्धन समिति के तत्वावधान में प्रकाशित यह कृति स्वाध्यायियों को पसन्द आएगी, समाज में श्रुत का प्रचार-प्रसार होगा, ऐसा मेरा सुदृढ़ विश्वास है।

– राजीव जैन 'सी.ए.'
कार्यकारी राष्ट्रीय महामंत्री
श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस, दिल्ली

संयोजकीय-विमर्श

'स्तोक' का एक अर्थ है – लघु, अल्प!

द्वितीय अर्थ है – बिन्दु, बून्द!

लघु में गुरु को समेटना, स्वल्प में अनल्प को ग्रहण करना, 'स्तोक' है। अथवा बिन्दु में सिन्धु को संग्रहित करना, 'स्तोक' है।

जैन परम्परा में स्तोक की एक समृद्ध परम्परा है। जैन आचार्यों और मनीषी विद्वान मुनियों ने 'स्तोक' की इस परम्परा का अनुसंधान किया। आगमों के रहस्यों और तात्विक विवेचनाओं को उन्होंने स्तोक विधा में इस विधि से पिरोया जिससे विज्ञ व अज्ञ सभी कोटि के साधक उस ज्ञान-सम्पदा को सुविधा से कण्ठस्थ कर सकें।

जैन-परम्परा में सैकड़ों-हजारों स्तोक उपलब्ध हैं जिनमें सकल आगम-वाङ्मय बिन्दु में सिन्धु की भांति समाया हुआ है। 'पच्चीस बोल का स्तोक' सर्वाधिक प्रचलित है। इसे स्तोक-साहित्य का सरताज इसलिए कहा जाता है कि इसमें स्वल्पतम शब्दों में विराट अर्थवत्ता संग्रहित है। नि:संदेह यह स्तोक 'आगम' में प्रवेश का द्वार है।

25 बोल नामक यह स्तोक लघु है। इसे स्मरण करना सरल है। इसे स्मरण करके तथा इसके अर्थों को समझ करके जैन धर्म-दर्शन के आधारभूत ज्ञान को आत्मसात् किया जा सकता है।

विशेष : लगभग आठ दशक पूर्व कविरत्न उपाध्याय श्री अमर मुनि जी म. के दिशा-दर्शन में उनके सुशिष्य विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि जी 'शास्त्री' ने 25 बोल के स्तोक पर संक्षिप्त और सारगर्भित व्याख्या

लिखी। यह व्याख्या सटीक है, सूरुचिपूर्ण है। इसकी भाषा-शैली प्राञ्जल और प्रवाहमयी है। इसके पठन से पाठक सरलता से '25 बोल के स्तोक' के सूत्ररूप ज्ञान को हृदयंगम कर सकते हैं। इसी तथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए 'श्रुत संवर्धन समिति' ने इस संस्करण को प्रकाशित कर चतुर्विध संघ में वितरण का ध्येय निर्धारित किया है।

पूज्य श्री शास्त्री जी महाराज द्वारा लिखित यह व्याख्या संघ में ज्ञान संवर्धन का हेतु बनेगी, यह आनंद और आस्था का विषय है। श्रुत संवर्धन समिति की ओर से मैं स्मृति-शेष महामुनि का अभिनंदन करता हूँ।

– डॉ. अमितराय जैन, बड़ौत
(संयोजक : श्रुत संवर्धन समिति)
मो. : 9837394448, 9997889995
E-mail : amitraijain78@gmail.com

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ सं.
	अध्यक्षीय उद्‌गार	(*iii*)
	प्रस्तावना	(*iv*)
	संयोजकीय-विमर्श	(*v*)
1.	बोल पहला : गति चार	1
2.	बोल दूसरा : जाति पाँच	6
3.	बोल तीसरा : काय छह	8
4.	बोल चौथा : इन्द्रिय पाँच	11
5.	बोल पाँचवाँ : पर्याप्ति छह	14
6.	बोल छठा : प्राण दस	16
7.	बोल सातवाँ : शरीर पाँच	19
8.	बोल आठवाँ : योग पन्द्रह	21
9.	बोल नौवाँ : उपयोग बारह	23
10.	बोल दसवाँ : कर्म आठ	26
11.	बोल ग्यारहवाँ : गुणस्थान चौदह	30
12.	बोल बारहवाँ : पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय	34

क्र.	विवरण	पृष्ठ सं.
13.	बोल तेरहवाँ : दस प्रकार का मिथ्यात्व	37
14.	बोल चौदहवाँ : नौ तत्त्व के 115 भेद	40
15.	बोल पन्द्रहवाँ : आत्मा आठ	56
16.	बोल सोलहवाँ : दण्डक चौबीस	59
17.	बोल सत्रहवाँ : लेश्या छह	61
18.	बोल अठारहवाँ : दृष्टि तीन	64
19.	बोल उन्नीसवाँ : ध्यान चार	65
20.	बोल बीसवाँ : षड्द्रव्य के तीस भेद	67
21.	बोल इक्कीसवाँ : राशि दो	72
22.	बोल बाईसवाँ : श्रावक के बारह व्रत	73
23.	बोल तेईसवाँ : साधु के पाँच महाव्रत	77
24.	बोल चौबीसवाँ : भंग 49	79
25.	बोल पच्चीसवाँ : चारित्र पाँच	83
	नोट्स	85

बोल पहला : गति चार

1. नरक गति
2. तिर्यञ्च गति
3. मनुष्य गति
4. देव गति

व्याख्या

संसार में अनन्त जीव हैं। साधारण व्यक्ति के लिए सबको जानना और वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है। केवली-भगवान् ही अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त जीवों को जान-देख सकते हैं। अल्पज्ञ जीव में वैसा सामर्थ्य नहीं है, कि वह समस्त जीवों को जान सके, देख सके। क्योंकि अल्पज्ञ जीव के पास ज्ञान का साधन है – इन्द्रिय। इन्द्रियों द्वारा सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों को जाना नहीं जा सकता।

फिर, एक अल्पज्ञ आत्मा जीवों का परिज्ञान कैसे करे? शास्त्रकार ने इसी प्रश्न के समाधान के लिए अनन्त जीवों का चार विभागों में वर्गीकरण कर दिया है। संसार के समग्र जीव इस में समाहित हो जाते हैं। संसारस्थ एक भी जीव ऐसा नहीं रहता जो इस बोल में न आ जाता हो।

लोक-भाषा में गति का अर्थ है—गमन, चलना-फिरना। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना। परन्तु यहाँ पर गति का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ ग्रहण किया गया है। एक भव से दूसरे भव की प्राप्ति को गति कहा गया है। जब एक आत्मा मनुष्य-भव के आयुष्य को पूर्ण करके देव-भव में जाने को प्रस्थान करता है तो उस क्षण से लेकर जब तक वह देवभव में रहता है, तब तक की वह अवस्था-विशेष देव-गति कहलाती है। इसी प्रकार मनुष्य गति, तिर्यंच गति और नरक गति के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

'नाम-कर्म' की उत्तर प्रकृतियों में, 'गति-नाम' एक प्रकृति है। उस गति-नाम कर्म के उदय से जीव कभी नरक में, कभी तिर्यञ्च में, कभी मनुष्य में और कभी देव योनि में जन्म ग्रहण करता है। अतः ये सब संसारी जीव की अशुद्ध पर्याय हैं; जो गति नाम कर्म के उदय से होती रहती हैं। शुद्ध दृष्टि से जीव, केवल शुद्ध जीव है, नारक आदि नहीं।

जैन दर्शन में, आत्मा के दो रूप माने गए हैं – मुक्त और संसारस्थ। मुक्त आत्मा वह है, जो कर्मों से रहित हो चुका है। वह शुद्ध है, निरञ्जन है, मल-रहित है। शास्त्रकार इस प्रकार की आत्मा को सिद्ध कहते हैं। जो एक बार संसार से मुक्त हो गया, वह फिर कभी संसार में नहीं आता। मुक्त एवं सिद्ध आत्माएं अनन्त हैं और अनन्त होंगी।

परन्तु जो आत्माएं अभी तक कर्म-बन्धनों में बद्ध हैं, वे अशुद्ध हैं, कर्म-सहित हैं, मल-सहित हैं। शास्त्रकार इस प्रकार की

आत्माओं को संसारस्थ कहते हैं। प्रस्तुत बोल में इन्हीं संसारी आत्माओं का वर्णन किया गया है। संसारी आत्माएं चार ही प्रकार की हो सकती हैं – नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

नारक

नरक-भूमि के वासी जीव नारक कहे जाते हैं। नरक-भूमि सात हैं, जो इस प्रकार हैं–रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा।

नरक एक ऐसा स्थान है, जहां जीव अपने अशुभ कर्मों का फल पाता है। नारक जीवों में अशुद्ध लेश्या और अशुद्ध परिणाम होते हैं। नरक की वेदना तीन प्रकार की होती है – क्षेत्र - स्वभाव जन्य शीतादि, परस्परजन्य और असुरजन्य।

असंज्ञी जीव मरकर पहली भूमि तक, भुजपरिसर्प दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, सिंह चौथी तक, सर्प पांचवीं तक, नारी छठी तक और पुरुष एवं मत्स्य सातवीं तक जा सकते हैं।

नारक जीव मरकर नारक और देव नहीं बन सकते। तिर्यंच और मनुष्य ही बन सकते हैं।

तिर्यंच

नारक, मनुष्य और देव को छोड़ कर शेष जितने भी संसारी जीव हैं, वे तिर्यञ्च कहे जाते हैं। नरक-गति की तरह तिर्यञ्च गति भी पापमूलक मानी जाती है। तिर्यञ्च जीवों के तीन भेद हैं – जलचर, स्थलचर और खेचर।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च योनि में समाविष्ट हो जाते हैं। मनुष्य, देव तथा नारक को छोड़कर शेष समस्त पंचेन्द्रिय त्रस जीव भी तिर्यञ्च गति में हैं। लोक भाषा में, पशु, पक्षी और कीट-पतंगे आदि जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार प्रायः चारों गतियों में जा सकते हैं।

मनुष्य

शास्त्र में मनुष्य-जन्म को सर्व-श्रेष्ठ और सर्व-ज्येष्ठ कहा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य अपनी संयम साधना से मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है, जबकि अन्य गतियों में यह सम्भव नहीं है। गुण-स्थान की दृष्टि से भी नारक और देव चतुर्थ गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। तिर्यञ्च का विकास पांचवें से आगे नहीं। परन्तु मनुष्य में समस्त गुणस्थान सम्भावित हैं। अतः मनुष्य जन्म सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ है।

जन्म के आधार पर मनुष्यों के दो भेद हैं – गर्भज और संमूर्च्छिम। माता और पिता के संयोग से जो जन्म मिलता है, वह गर्भज कहा जाता है। मनुष्य और तिर्यञ्च में ही यह होता है। माता और पिता के संयोग के बिना जो मल-मूत्रादि में मानवाकार प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, वे संमूर्च्छिम कहे जाते हैं। मनुष्य की तरह तिर्यञ्च भी संमूर्च्छिम होते हैं और ये दोनों मनोरहित होने से असंज्ञी ही होते हैं

भूमि के आधार पर मनुष्यों के दो भेद किये गए हैं – भोग-भूमिज तथा कर्म-भूमिज। भोग-भूमि वह है, जहाँ

असि-कर्म, मसि-कर्म और कृषि-कर्म नहीं होते। और जहां ये होते हैं, वह कर्म-भूमि है।

संस्कृति और सभ्यता के आधार पर भी मनुष्यों के भेद किये गये हैं। जैसे कि आर्य और म्लेच्छ। मनुष्य भी मर कर प्रायः चारों गतियों में जा सकता है।

देव

देव शब्द भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में चिरपरिचित है। देवगति में सुख माना गया है। वहां शुभ लेश्या और शुभ परिणाम माने गए हैं। वहाँ प्रायः सातावेदनीय कर्म का उदय माना गया है।

देवों के चार भेद हैं – भवन पति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। देव मरकर न देव हो सकता है और न नारक। किन्तु अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण मनुष्य या तिर्यञ्च गति में जन्म ले सकता है।

गतियों के कारण

संक्षेप में नरक गति के कारण हैं – महारम्भ, महापरिग्रह। तिर्यञ्च गति का कारण है – माया। मनुष्य गति का कारण है – अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह। देव गति का कारण है – सराग-संयम, संयमासंयम-श्रावकत्व, बालतप और अकाम निर्जरा आदि।

●●●

बोल दूसरा : जाति पाँच

1. एकेन्द्रिय जाति
2. द्वीन्द्रिय जाति
3. त्रीन्द्रिय जाति
4. चतुरिन्द्रिय जाति
5. पञ्चेन्द्रिय जाति

व्याख्या

जीव अनन्त हैं। वे सभी समान नहीं हैं। विकास-क्रम के आधार पर समग्र संसारी जीवों को पांच विभागों में विभक्त किया गया है। समस्त जीवों में चैतन्य गुण समान होने पर भी उस गुण की अभिव्यक्ति में साधनभूत इन्द्रियों के विकास-क्रम को लेकर ही संसारी जीवों के यहां पर पांच भेद किये गये हैं।

जाति शब्द के दो अर्थ हैं – जन्म और समूह। यहाँ पर समूह अर्थ ही ठीक बैठता है। एकेन्द्रिय जाति का अर्थ है – ऐसे प्राणियों का समूह जिन के केवल एक ही इन्द्रिय है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय जाति तक का अर्थ समझ लेना चाहिए।

इन्द्रिय शब्द का अर्थ है – ज्ञान का साधन। जिसके द्वारा आत्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है।

इन्द्रियां कितनी हैं? पांच। कुछ लोगों की मान्यता है कि मन भी इन्द्रिय है। फिर पाँच ही क्यों? मन इन्द्रिय अवश्य है पर वह अन्तरंग है। यहां पर जीवों के जो पांच भेद किये गए हैं, वे बहिरंग इन्द्रियों के आधार पर ही किए हैं।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों में, जाति नाम कर्म भी एक प्रकृति है। उसके उदय से ही जीवों को एकेन्द्रिय आदि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

एकेन्द्रिय जीव – पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति।

द्वीन्द्रिय जीव – लट, सीप, शंख, कृमि, घुण आदि।

त्रीन्द्रिय जीव – चींटी, चींचड़, जूं, लीख, मकोड़ा आदि।

चतुरिन्द्रिय जीव – मक्खी, मच्छर, भंवरा, बिच्छू आदि।

पंचेन्द्रिय जीव – नारक, पशु, मनुष्य एवं देव।

●●●

बोल तीसरा : काय छह

1. पृथ्वी काय **2. अप् काय**
3. तेजस् काय **4. वायु काय**
5. वनस्पति काय **6. त्रस काय**

व्याख्या

विभिन्न प्रकार के पुद्गलों से बने शरीरों के द्वारा जीव के जो विभाग होते हैं, उन्हें काय कहते हैं।

पृथ्वी है काय जिनकी, वे जीव पृथ्वी काय हैं। अप् (जल) है काय जिनकी, वे जीव अप् काय। तेजस् (अग्नि) है काय जिनकी वे जीव तेजस् काय। वायु है काय जिनकी, वे जीव वायु काय। वनस्पति है काय जिनकी, वे जीव वनस्पति काय। त्रस (गमन-चलन क्रिया युक्त) है काय जिनकी, वे जीव त्रस काय।

जीव-विज्ञान पर जितना अनुसंधान जैन शास्त्रों में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। अहिंसा-मूलक धर्म के लिए यह आवश्यक भी था, और आज भी है। हिंसा से बचने के लिए जीवों का स्वरूप और जीवों के भेदों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

शास्त्र में जीवों के मुख्य रूप से दो भेद हैं – स्थावर और त्रस। प्रथम के पाँच काय स्थावर हैं। स्थावर का स्थूल अर्थ है, स्थिर रहने वाले, एक ही स्थान पर स्थित जैसे वृक्ष आदि। जो जीव हलन-चलन की क्रिया करते हैं, वे त्रस हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। सिद्धान्तानुसार स्थावर नाम कर्म का उदय जिनको हो, वे जीव स्थावर हैं; और जिनको त्रस नाम कर्म का उदय हो, वे जीव त्रस हैं। स्थावर एवं त्रस को मिलाकर जीवों के छह भेद हो जाते हैं। आगम में इसी को षड् जव निकाय कहा जाता है।

पृथ्वी काय – मिट्टी, मुरड़, हिंगुल, हरताल, हीरा, पन्ना, सोना, चांदी आदि सब पृथ्वीकायिक जीव हैं। मिट्टी के एक कण में भी असंख्य पृथक्-पृथक् जीव होते हैं। पृथ्वी कायिक जीवों को स्व-पर शस्त्र न लगे, तब तक पृथ्वी सचित्त है। वही शस्त्र लगने पर अचित्त हो जाती है। यही क्रम जल, तेजस्, वायु और वनस्पति काय के सम्बन्ध में भी है।

अप् काय – वर्षा का जल, ओस का जल, गढ़े का पानी, कुआं-बावड़ी का पानी, तालाब-झील व नदी का पानी आदि सब अप्कायिक जीव हैं।

तेजस् काय – भाड़ की अग्नि, झाल की अग्नि, बांस की अग्नि, उल्का-पात आदि सब तेजस्कायिक जीव हैं।

वायु काय – उत्कलिका वायु, मण्डलिका वायु, घन वायु, गुञ्जा वायु आदि सब वायु-कायिक जीव हैं।

वनस्पति काय – वृक्ष, लता, कन्द, मूल आदि वनस्पति काय है। इसके दो भेद हैं – साधारण और प्रत्येक।

साधारण वनस्पति – जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव वास करते हों, उसे साधारण वनस्पति-काय कहते हैं। कन्द, मूल, आलू, मूली, अदरक आदि अनन्तकायिक साधारण वनस्पति हैं।

प्रत्येक वनस्पति – जिस के एक शरीर में एक जीव हो। लता, बेल, तृण, वृक्ष आदि प्रत्येक वनस्पति हैं। क्योंकि इनमें प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वतन्त्र स्वामी है।

त्रस काय – द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस काय हैं।

●●●

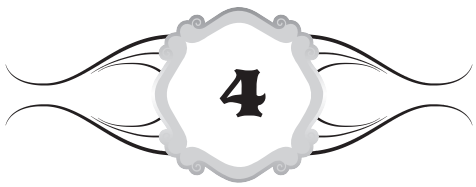

बोल चौथा : इन्द्रिय पाँच

1. श्रोत्रेन्द्रिय
2. चक्षुरिन्द्रिय
3. घ्राणेन्द्रिय
4. रसनेन्द्रिय
5. स्पर्शनेन्द्रिय

व्याख्या

समस्त संसारी जीवों में समान इन्द्रियां नहीं होती हैं। किसी में एक, किसी में दो, किसी में तीन, किसी में चार और किसी में पाँच। किसी जीव में पाँच से अधिक इन्द्रिय नहीं हो सकतीं। क्योंकि इन्द्रियां पाँच ही हैं। यहाँ पर इन्द्रियों के आधार पर संसारी जीवों का वर्गीकरण किया गया है।

आत्मा को इन्द्र कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञानादि ऐश्वर्य से सम्पन्न है। इन्द्र जिस चिह्न से जाना जाता है, अथवा जो इन्द्र के ज्ञान का साधन है, उसे इन्द्रिय कहा गया है, और वे संख्या में पाँच हैं – स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुष् और श्रोत्र।

श्रोत्र – जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान किया जाता है, सुना जाता है, वह श्रोत्र इन्द्रिय है, अर्थात् कर्ण – Sense of hearing (Ears).

चक्षुष् – जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान किया जाता है, देखा जाता है, वह चक्षुष् इन्द्रिय है, अर्थात् नेत्र – Sense of sight (Eyes).

घ्राण – जिस इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान किया जाता है, सूँघा जाता है, वह घ्राण इन्द्रिय है अर्थात् नाक – Sense of smell (Nose).

रसन – जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान किया जाता है, अर्थात् स्वाद लिया जाता है, वह रसन इन्द्रिय है, अर्थात् जिह्वा – Sense of test (Tongue).

स्पर्शन – जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान किया जाता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है, अर्थात् त्वचा – Sense of Touch.

इन्द्रियों की तरह मन भी ज्ञान का साधन है, फिर इसको इन्द्रिय क्यों नहीं माना गया? मन ज्ञान का साधन अवश्य है; परन्तु फिर भी रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। यद्यपि मन स्वतन्त्र रूप से भी अपने चिन्त्य विषय को ग्रहण करता है, फिर भी अधिकतर मन का कार्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का चिन्तन करना मात्र है। अतः उसे इन्द्रिय न मान कर अनिन्द्रिय (इन्द्रिय जैसा) कहा गया है।

यद्यपि मन पशु और पक्षी आदि में भी होता है, तथापि मन की सबसे विकसित अवस्था मनुष्य में देखी जाती है। क्योंकि मनुष्य का नाड़ी-तन्त्र Nervous system दृष्ट दूसरे प्राणियों की

अपेक्षा अधिक विकसित है। मनुष्य में Mental Power अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है।

मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन भाग हो सकते हैं – चेतन मन conscious, चेतनोन्मुख Pre-conscious और अचेतन Un-conscious.

चेतन मन, मन का वह भाग है, जिसमें मन की समस्त ज्ञात क्रियाएं चला करती हैं। चलना, फिरना, बोलना, लिखना, पढ़ना और सोचना आदि क्रियाओं का नियन्त्रण चेतन मन करता है।

चेतन मन के परे चेतनोन्मुख मन है। उस में वे भावनाएं, स्मृतियां, इच्छाएं तथा वेदनाएं रहती हैं, जो प्रकाशित नहीं हैं, किन्तु वे चेतना पर आने के लिए तत्पर हैं।

चेतनोन्मुख मन के परे अचेतन मन है। विचार तथा भावनाएं न हमें ज्ञात रहती हैं; और न सहज भाव से बाहर ही आती हैं। प्रयत्न-विशेष से ही वे चेतना स्तर पर आती हैं।

शास्त्र में मन के दो भेद कहे हैं – द्रव्य और भाव। द्रव्य मन पुद्गलमय होने से जड़ है और भाव मन चेतनमय, क्योंकि भाव मन ज्ञानावरण का एक क्षयोपशम-विशेष है।

●●●

बोल पाँचवाँ : पर्याप्ति छह

1. आहार पर्याप्ति
2. शरीर पर्याप्ति
3. इन्द्रिय पर्याप्ति
4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
5. भाषा पर्याप्ति
6. मनःपर्याप्ति

व्याख्या

पर्याप्ति आत्मा की एक शक्ति-विशेष है। आत्मा जिस शक्ति से पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हें शरीर आदि रूप में परिणत करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। इसके छह भेद हैं।

आहार पर्याप्ति – जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण कर उनको खल और रस रूप में बदलता है।

शरीर पर्याप्ति – जिस शक्ति के द्वारा जीव रस रूप में परिणत आहार को रक्त, मांस, मज्जा और वीर्य आदि धातुओं में बदलता है।

इन्द्रिय पर्याप्ति – जिस शक्ति से जीव सात धातुओं को स्पर्शन, रसन आदि इन्द्रियों में बदलता है।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति – जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वास और उच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है।

भाषा पर्याप्ति – जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषा योग्य भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत करके छोड़ता है।

मनः पर्याप्ति – जिस शक्ति के द्वारा जीव मनोयोग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप में बदलता और छोड़ता है।

किन जीवों के कितनी पर्याप्ति होती हैं? एकेन्द्रिय जीव के भाषा और मन को छोड़ कर शेष सभी हैं। विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के मन को छोड़कर शेष समस्त पर्याप्ति हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के छहों पर्याप्ति होती हैं।

संसारी जीवों में ये पर्याप्ति कम से कम चार और अधिक से अधिक छह होती हैं। कोई भी जीव जब अपर्याप्त-दशा में मरता है, तब वह कम से कम प्रथम की तीन पर्याप्ति तो अवश्य ही पूरी करता है।

पर्याप्ति के आधार पर जीवों के दो भेद किये हैं – पर्याप्त और अपर्याप्त। जिस जीव ने स्व-योग्य पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया है, वह पर्याप्त कहा जाता है।

अपर्याप्त वह है, जो स्व-योग्य पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर पाया है। ●●●

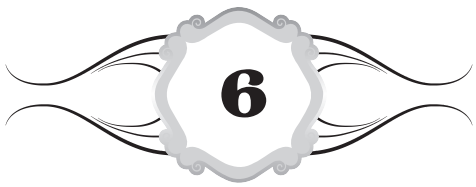

6

बोल छठा : प्राण दस

1. श्रोत्र बल प्राण 2. चक्षुष् बल प्राण
3. घ्राण बल प्राण 4. रसन बल प्राण
5. स्पर्शन बल प्राण 6. मन बल प्राण
7. वचन बल प्राण 8. काय बल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास बल प्राण 10. आयुष्य बल प्राण।

व्याख्या

प्राण अर्थात् जीवन जीने की शक्ति। जिस शक्ति के संयोग से जीव जीवित रहे, और वियोग से मर जाए; वह प्राण है। प्राण जीव के बाह्य लक्षण हैं। प्राणों के बिना जीव जीवित नहीं रहता।

शास्त्र में प्राण के दो भेद हैं – द्रव्य और भाव। जो प्राण केवल संसार अवस्था में ही मिलता है, मुक्त दशा में नहीं; वह द्रव्य प्राण कहा जाता है। द्रव्य प्राण के दश भेद हैं।

पाँच इन्द्रिय, तीन योग और श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य ये सब मिलकर दश द्रव्य प्राण हैं।

जो प्राण मुक्त दशा में भी आत्मा के साथ रहते हैं, वे भाव प्राण हैं। क्योंकि वे आत्मा के निज स्वरूप हैं। जैसे कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य।

यहां पर प्रत्येक शब्द के साथ 'बल' लगा है। बल का अर्थ है शक्ति-विशेष। छूने की शक्ति, चखने की शक्ति, सूंघने की शक्ति, देखने की शक्ति और सुनने की शक्ति। यह इन्द्रिय प्राण है।

विचार करने की शक्ति, बोलने की शक्ति, और चलने-फिरने आदि शारीरिक शक्ति। ये तीन योग रूप प्राण है।

जीव जिस शक्ति से बाहर की वायु को अन्दर खींचता है, और अन्दर की वायु को बाहर फैंकता है, वह क्रमशः श्वास और उच्छ्वास है।

जिस शक्ति के अस्तित्व से जीव जीवित रहता है, और जिस के असद्भाव से जीव मर जाता है, वह आयुष्य प्राण है। दशों प्राणों में आयुष्य प्राण सबसे मुख्य है। इसके अभाव में दूसरे प्राणों का कोई महत्त्व नहीं रहता।

किस जीव में कितने प्राण हो सकते हैं? इसके समाधान में शास्त्र में कहा गया है –

एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण हैं – स्पर्शन इन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य।

द्वीन्द्रिय जीव में छह प्राण हैं – चार पूर्वोक्त तथा रसन-इन्द्रिय और वचन।

त्रीन्द्रिय जीव में सात प्राण हैं – छह पूर्वोक्त और घ्राणेन्द्रिय।

चतुरिन्द्रिय जीव में आठ प्राण हैं – सात पूर्वोक्त और चक्षुरिन्द्रिय।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में नौ प्राण हैं – आठ पूर्वोक्त और श्रोत्र इन्द्रिय।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव में दश प्राण हैं – नौ पूर्वोक्त और दसवां मन।

●●●

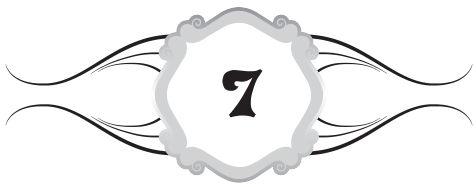

बोल सातवाँ : शरीर पाँच

1. औदारिक शरीर
2. वैक्रिय शरीर
3. आहारक शरीर
4. तैजस शरीर
5. कार्मण शरीर

व्याख्या

आत्मा जिसके द्वारा पूर्व-संचित कर्मों को भोगता है, उसे शरीर कहते हैं। 'भोगायतनं शरीरम्।' अर्थात् शरीर भोग का आयतन है, स्थान है।

संसार अवस्था में इन पाँच शरीरों में से कोई न कोई शरीर अवश्य ही रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म को ग्रहण करते समय अन्तराल गति में भी तैजस और कार्मण शरीर रहते हैं। क्योंकि बिना शरीर के जन्म और मरण हो कैसे सकता है।

औदारिक शरीर – उदार (स्थूल) पुद्गलों से बना शरीर। अथवा प्रधान पुद्गलों से बना शरीर। तीर्थंकर आदि का शरीर प्रधान पुद्गलों से बनता है।

वैक्रिय शरीर – जिस शरीर से विविध और विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। जैसे एक रूप से अनेक रूप करना। अणु से विराट करना। दृश्य से अदृश्य करना, आदि।

आहारक शरीर – आहारक-लब्धि से बनाया गया शरीर। जीव-दया, तीर्थंकर की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि विशेष प्रयोजन से चतुर्दश पूर्वधर मुनि अपनी आहारक लब्धि से जो शरीर बनाते हैं, वह आहारक शरीर होता है।

तैजस शरीर – तैजस पुद्गलों से बना हुआ शरीर। शरीर में विद्यमान उष्णता से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। तपोविशेष से प्राप्त तैजस लब्धि का कारण भी यही शरीर है।

कार्मण शरीर – कार्मण वर्गणाओं से बना शरीर। अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज है।

प्रथम तीन शरीरों के अंग, उपांग और अंगोपांग होते हैं। तैजस और कार्मण के नहीं। क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर हैं। इन पांचों में पूर्व से उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं और उत्तर से पूर्व-पूर्व शरीर स्थूल हैं। सबसे स्थूल औदारिक और सब शरीरों से सूक्ष्म शरीर कार्मण है।

●●●

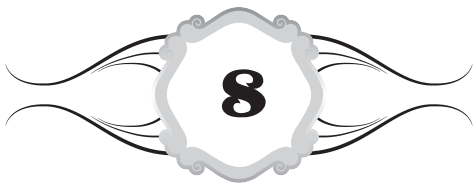

बोल आठवाँ : योग पन्द्रह

चार मन के – 1. सत्य मनो योग, 2. असत्य मनो योग, 3. मिश्र मनो योग, 4. व्यवहार मनो योग।

चार वचन के – 1. सत्य वचन योग, 2. असत्य वचन योग, 3. मिश्र वचन योग, 4. व्यवहार वचन योग।

सात काय के – 1. औदारिक काय योग, 2. औदारिक-मिश्र काय योग, 3. वैक्रिय काय योग, 4. वैक्रिय-मिश्र काय योग, 5. आहारक-काय योग, 6. आहारक-मिश्र काय योग, 7. कार्मण काय योग।

व्याख्या

भारतीय साहित्य में योग शब्द सुपरिचित एवं बहु व्यापक है। सामान्य रूप में योग का अर्थ ध्यान तथा समाधि किया जाता है। 'योग-सूत्र' में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।

परन्तु जैन शास्त्रानुसार, प्रस्तुत में योग शब्द का विशेष अर्थ लिया गया है। यहां पर मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहा गया है। मन, वचन और काय वर्गणा के पुद्गलों की सहायता

से, आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द को Vibration कम्पन व हलन-चलन को योग कहा गया है।

मुख्य रूप से योग के तीन भेद हैं। विस्तार की अपेक्षा से उसी के पन्द्रह भेद कर दिये गए हैं।

मन दो प्रकार का है – भाव मन और द्रव्य मन। भाव मन को Subjective mind और द्रव्य मन को Objective mind कहते हैं। द्रव्य मन का सम्बन्ध Brain से है। भाव मन का सम्बन्ध आत्मा से है।

मन की प्रवृत्ति चार ही प्रकार की हो सकती है – कभी सत्य, कभी असत्य, कभी सत्यासत्य (मिश्र) और कभी लोक व्यवहाररूप।

वचन का अर्थ है भाषा। वह भी चार ही प्रकार की हो सकती है – कभी सत्य, कभी असत्य, कभी सत्यासत्य (मिश्र) और कभी लोक-व्यवहाररूप।

काय का अर्थ है – शरीर। उस के पांच भेद हैं। शरीर का व्यापार सात प्रकार का ही हो सकता है। अधिक नहीं। अतः काय योग के सात भेद किए गए हैं।

कार्मण योग की तरह तैजस योग क्यों नहीं माना गया? उसके स्वतन्त्र रूप में मानने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यापार कार्मण शरीर का है, वही तैजस शरीर का है। क्योंकि तैजस और कार्मण शरीर सदा सहचर रहते हैं। अतः कार्मण योग में ही तैजस योग समाहित हो जाता है। ●●●

9

बोल नौवाँ : उपयोग बारह

पांच ज्ञान – 1. मति ज्ञान, 2. श्रुत ज्ञान, 3. अवधि ज्ञान, 4. मन:पर्याय ज्ञान, 5. केवल ज्ञान।

तीन अज्ञान – 1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान, 3. अवधि अज्ञान (विभंगज्ञान)

चार दर्शन – 1. चक्षुर् दर्शन, 2. अचक्षुर् दर्शन, 3. अवधि दर्शन, 4. केवल दर्शन।

व्याख्या

आत्मा के ज्ञान रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। किसी भी वस्तु को सामान्य या विशेष रूप से जान लेना उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं – ज्ञान और दर्शन। पदार्थों के विशेष बोध को ज्ञान या साकारोपयोग कहते हैं। पदार्थों के विशेष धर्म, विशेष गुण और विशेष क्रिया का ज्ञान होना – साकारोपयोग है। पदार्थों के सामान्य बोध को दर्शन या निराकारोपयोग कहते हैं।

जैन दर्शन में वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी है। जब चेतना वस्तु के विशेष धर्म को मुख्य रूप में और उसके सामान्य धर्म को

गौण रूप में ग्रहण करती है, तो चेतना के उस व्यापार को ज्ञानोपयोग कहा जाता है। परन्तु जब चेतना किसी भी वस्तु के सामान्य धर्म को मुख्य रूप में, और उसके विशेष धर्म को गौण रूप में ग्रहण करती है, तब उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। ज्ञान साकार और दर्शन निराकार होता है।

मति ज्ञान – इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान। मन से अरूपी पदार्थों का भी परोक्ष ज्ञान किया जा सकता है।

श्रुत ज्ञान – जो ज्ञान श्रुतानुसारी है। जिस से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जाना जाता है। जो मति ज्ञान के बाद होता है।

मति और श्रुत का परस्पर सम्बन्ध है। दोनों में कार्य और कारण भाव है। मति ज्ञान कारण है और श्रुत ज्ञान कार्य है। दोनों ज्ञान निमित्तावलम्बी होने से परोक्ष हैं।

अवधि ज्ञान – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा द्वारा मर्यादा पूर्वक रूपी द्रव्य का ज्ञान।

मनःपर्याय ज्ञान – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा द्वारा संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान।

केवल ज्ञान – मूर्त, अमूर्त, सूक्ष्म, स्थूल आदि त्रिकाल-वर्ती समस्त पदार्थ और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को एक साथ जानने वाला ज्ञान, अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को बिना किसी बाह्य साधन के साक्षात् आत्मा द्वारा एक साथ जान लेने वाला ज्ञान।

अवधि आदि तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, अवधि और मन:पर्याय विकल - अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं; और केवल ज्ञान सकल - पूर्ण प्रत्यक्ष हैं।

मिथ्यात्व-सहचरित मति, श्रुत और अवधि क्रम से **मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, और अवधि अज्ञान** कहे जाते हैं। यहां पर अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, बल्कि कुत्सित ज्ञान समझना चाहिए। कुत्सित ज्ञान का अर्थ है, मिथ्या ज्ञान, विपरीत ज्ञान।

चक्षुर् दर्शन – चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा पदार्थों का जो सामान्य रूप से बोध होता है।

अचक्षुर् दर्शन – अचक्षुर्दर्शनावण कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रियों से और मन से पदार्थों का जो सामान्य रूप से बोध होता है।

अवधि दर्शन – अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है!

केवल दर्शन – केवल दर्शनावरण कर्म के क्षय होने पर साक्षात् आत्मा द्वारा सकल पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है, उसे केवल दर्शन कहते हैं।

●●●

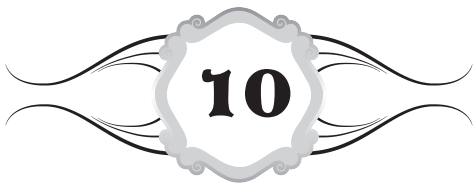

बोल दसवाँ : कर्म आठ

1. ज्ञानावरण कर्म
2. दर्शनावरण कर्म
3. वेदनीय कर्म
4. मोहनीय कर्म
5. आयुष् कर्म
6. नाम कर्म
7. गोत्र कर्म
8. अन्तराय कर्म

व्याख्या

मिथ्यात्व, कषाय और योग आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही होता है, जैसा दूध और पानी का अथवा अग्नि और लोह-पिण्ड का। आत्म-सम्बद्ध पुद्गल द्रव्य को कर्म कहते हैं।

यद्यपि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है, परन्तु प्रत्येक का यह सम्बन्ध अनन्त काल तक रहेगा, ऐसी बात नहीं है। खान में जो सुवर्ण है, उस का मिट्टी के साथ अनादि सम्बन्ध होने पर भी विशेष शोध-क्रिया के द्वारा जब उससे मिट्टी हटा देते हैं, तब वह शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। यही सिद्धान्त कर्म और आत्मा पर भी

लागू होता है। कर्म-सहित जीव अशुद्ध और कर्म-रहित जीव शुद्ध होता है। साधना के द्वारा जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है।

शास्त्र में मुख्य रूप से कर्म के दो भेद हैं – भाव कर्म और द्रव्य कर्म। राग, द्वेष और कषाय आदि भाव कर्म हैं। भावकर्म के निमित्त से कर्म वर्गणा के पुद्गलों की एक विशेष परिणति द्रव्य कर्म है। ऊपर जो कर्म के आठ भेद हैं, वे द्रव्य कर्म हैं।

ज्ञानावरण कर्म – आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने वाला कर्म। जिस प्रकार आंख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं को देखने में रुकावट पड़ती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों का विशेष बोध करने में रुकावट पड़ती है।

जैसे सघन बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी उसका प्रकाश उतना अवश्य रहता है, कि जिस से दिन-रात का भेद समझा जा सके। वैसे ही कैसा भी प्रगाढ़ ज्ञानावरण कर्म हो, उसके रहते हुए भी आत्मा में इतना ज्ञान तो अवश्य रहता है कि जिस से वह जड़ पदार्थों से पृथक् किया जा सके।

दर्शनावरण कर्म – आत्मा की सामान्य बोधरूप दर्शन शक्ति को, आत्मा के दर्शन गुण को ढ़कने वाला कर्म। यह कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, वैसे ही यह कर्म भी पदार्थों का सामान्य बोध करने में रुकावट डालता है।

वेदनीय कर्म – जो अनुकूल और प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख और दु:ख रूप में वेदन अर्थात् अनुभव किया जाए। यह कर्म मधु-लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान है। चाटते समय क्षण भर को सुख, परन्तु बाद में दु:ख होता है। वेदनीय कर्म की भी यही स्थिति है। वेदनीय कर्म का दु:ख तो दु:खरूप है ही, किन्तु सुख भी अन्ततः दु:ख रूप ही है।

मोहनीय कर्म – जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, भले-बुरे के विवेक से शून्य बना देता है, जो सदाचार-विमुख करता है, वह कर्म मोहनीय है। यह कर्म अन्य कर्मों से प्रबल कर्म है। यह मदिरा के सदृश होता है। जैसे मदिरा पीने वाला विवेक-विकल हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव विवेक-शून्य हो जाता है। यह कर्म आत्मा के श्रद्धान एवं चारित्र गुण का घात करता है।

आयुष् कर्म – जिस कर्म के रहते प्राणी नर, नारकादि रूप से जीता है, और पूरा होने पर मर जाता है। यह कर्म कारागार के समान है।

नाम कर्म – जिस कर्म के उदय से जीव कभी नारक, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव कहलाता है। अथवा जो कर्म जीव को एकेन्द्रिय आदि नानाविध पर्यायों में परिणत करता है। यह कर्म चित्रकार के समान माना गया है। जैसे चित्रकार नाना चित्र बनाता है, वैसे ही नाम कर्म भी जीव के नाना रूप बनाता है।

गोत्र कर्म – जिस कर्म के उदय से जीव जीवन की उच्च और नीच स्थिति को प्राप्त करता है। यह कर्म कुम्भकार के समान है। जैसे कुम्भकार अच्छे-बुरे घड़ों को बनाता है, वैसे ही यह कर्म भी जीव को उच्च और नीच बनाता रहता है।

अन्तराय कर्म – जिस कर्म के उदय से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य शक्ति का घात होता है; अथवा इनमें रुकावट पड़ती है। यह कर्म भण्डारी के समान है। राजा देता है, भण्डारी बाधा डालता है। वैसे ही इस कर्म से दान, लाभ आदि में बाधा पड़ती है।

●●●

बोल ग्यारहवाँ : गुणस्थान चौदह

1. मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान
2. सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
3. सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान
4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
5. देश विरत गुणस्थान
6. प्रमत्त संयत गुणस्थान
7. अप्रमत्त संयत गुणस्थान
8. निवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान
9. अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान
10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान
11. उपशान्त मोह-गुणस्थान
12. क्षीण-मोह गुणस्थान
13. सयोगी केवली गुणस्थान
14. अयोगी केवली गुणस्थान

व्याख्या

आत्मा की अशुद्धतम दशा से लेकर शुद्धतम दशा तक, संसार अवस्था से लेकर मुक्ति अवस्था तक और जीव की बद्ध स्थिति से लेकर मुक्त स्थिति तक पहुँचने के लिए चौदह भूमिकाएँ Stages मानी गई हैं।

मिथ्या दृष्टि गुणस्थान – मिथ्या (तत्त्व श्रद्धान के विपरीत) है दृष्टि जिसकी, वह मिथ्या दृष्टि, उसका गुणस्थान मिथ्या दृष्टि गुणस्थान। यह जीव की निम्नतम दशा है।

सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – सम्यक्त्व के आस्वाद मात्र से सहित जो दृष्टि वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि, उसका गुणस्थान सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान। अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व से पराङ्मुख मिथ्यात्व की ओर झुके हुए जीव की स्थिति।

सम्यग् मिथ्या दृष्टि गुणस्थान – यह आत्मा की संदिग्ध, दोलायमान अवस्था है। इसमें विचार - दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती है। इसमें स्थित जीव तत्त्वों पर न एकान्त रुचि करता है, न एकान्त अरुचि।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – अविरत, त्याग-रहित। त्याग रहित है सम्यग्दृष्टि जिसकी, वह अविरत सम्यग्दृष्टि, उसका गुणस्थान, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान। यह त्याग-शून्य सम्यग् विचार की अवस्था है, इसमें दृष्टि तो सम्यग् है, पर आचरण नहीं है।

देश विरत गुणस्थान – जिसकी विरति (त्याग) पूर्ण न हो वह देश विरति, उसका गुणस्थान, देश विरत गुणस्थान। इसमें देश-रूप में, अंश-रूप में, हिंसादि से विरति का भाव आ जाता है।

प्रमत्त संयत गुणस्थान – प्रमाद-युक्त साधु के गुणस्थान को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं। इसमें सर्व रूप से, पूर्ण रूप से चारित्र आ जाता है। सर्व विरत बन जाता है।

अप्रमत्त संयत गुणस्थान – प्रमाद-मुक्त साधु के गुणस्थान को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं। इसमें प्रमाद का अभाव होने से आत्मा और भी अधिक विशुद्ध होता है।

निवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान – बादर का अर्थ स्थूल है, और सम्पराय का अर्थ कषाय है। दशम गुणस्थान सूक्ष्म सम्पराय की अपेक्षा उक्त गुणस्थान में स्थूल कषाय का अस्तित्व होने के कारण इसे बादर सम्पराय कहते हैं। निवृत्ति का अर्थ भिन्नता है। अतः प्रस्तुत गुणस्थान के सम समय-वर्ती समस्त जीवों के अध्यवसाय भिन्न अर्थात् न्यूनाधिक शुद्धि वाले होते हैं।

अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान – प्रस्तुत गुणस्थान में भी बादर सम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय का अस्तित्व रहता है। अतः यह भी बादर-सम्पराय कहलाता है। पूर्ववर्ती अनिवृत्ति शब्द का अर्थ अभिन्नता है। अतः नवम गुणस्थान में जो जीव समसमय-वर्ती होते हैं, उन सबके अध्यवसाय एक समान अर्थात् तुल्य शुद्धि वाले होते हैं।

सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान – सूक्ष्म रूप में सम्पराय कषाय (मात्र लोभ) है जिसमें वह सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान। इसमें चार कषायों में से केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है।

उपशान्त मोह गुणस्थान – उपशान्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के लिए शान्त हो गया है मोह कर्म जिसमें, वह उपशान्त मोह, उसका गुणस्थान, उपशान्तमोह गुणस्थान। इसमें मोह (लोभ) का उपशम होता है, क्षय नहीं।

क्षीण मोह गुणस्थान – क्षीण, अर्थात् समूल नष्ट हो गया है मोह कर्म जिसका, वह क्षीण मोह, उसका गुणस्थान, क्षीण मोह गुणस्थान। इसमें मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है।

सयोगी केवली गुणस्थान – योग का अर्थ मन, वचन और काय का व्यापार है। सयोगी अर्थात् योग युक्त है जो केवली, वह सयोगी केवली, उसका गुणस्थान, सयोगी केवली गुणस्थान, इसमें आत्मा सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी हो जाता है।

अयोगी केवली गुणस्थान – अयोगी अर्थात् योग-रहित। योग-रहित है केवली जिसमें, वह अयोगी केवली, उसका गुणस्थान, अयोगी केवली गुणस्थान। इसमें आत्मा शैलेश अर्थात् मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हो जाता है। इसके बाद आत्मा गुणस्थानातीत होकर सर्वथा शुद्ध, मुक्त, परमात्मा बन जाता है।

●●●

बोल बारहवाँ : पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय

श्रोत्र इन्द्रिय के तीन विषय – 1. जीव शब्द, 2. अजीव शब्द, 3. मिश्र शब्द।

चक्षुष्-इन्द्रिय के पाँच विषय – 1. कृष्ण वर्ण, 2. नील वर्ण, 3. रक्त वर्ण, 4. पीत वर्ण, 5. श्वेत वर्ण।

घ्राण इन्द्रिय के दो विषय – 1. सुगन्ध, 2. दुर्गन्ध

रसन इन्द्रिय के पाँच विषय – 1. अम्ल (खट्टा) रस, 2. मधुर (मीठा) रस, 3. कटु (कड़वा) रस, 4. कषाय (कसैला) रस, 5. तिक्त (तीखा) रस।

स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषय – 1. शीत स्पर्श, 2. उष्ण स्पर्श, 3. रूक्ष स्पर्श, 4. स्निग्ध स्पर्श, 5. लघु स्पर्श, 6. गुरु स्पर्श, 7. मृदु स्पर्श, 8. कर्कश स्पर्श।

व्याख्या

इन्द्रिय पाँच हैं, अतः मुख्यतया उनके विषय भी पाँच हैं –

शब्द, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। विस्तार की अपेक्षा से इनके तेईस विषय हो जाते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषय तेईस और विकार दो सौ चालीस होते हैं।

संसार के समस्त पदार्थ दो विभागों में विभक्त हैं – मूर्त और अमूर्त। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो, वह मूर्त, शेष सभी अमूर्त। मूर्त अर्थात् पौद्गलिक पदार्थ ही इन्द्रिय-ग्राह्य हो सकते हैं, अमूर्त नहीं, जैसे आत्मा आदि।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को ही ग्रहण करती है, दूसरे के विषय को नहीं। रूप को चक्षुष् ही ग्रहण करती है, घ्राण एवं रसन आदि नहीं। सर्वत्र यही क्रम है।

विकार

पाँच इन्द्रियों के दो सौ चालीस विकार होते हैं और वे इस प्रकार समझने चाहिएं –

श्रोत्र इन्द्रिय के तीन विषयों के 12 विकार – जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। तीन शुभ और तीन अशुभ। इन छह पर राग और छह पर द्वेष। ये 12 विकार हुए।

चक्षुष् इन्द्रिय के पाँच विषयों के 60 विकार – 5 सचित्त, 5 अचित्त और 5 मिश्र। ये 15 शुभ और 15 अशुभ। इन 30 पर राग और 30 पर द्वेष। ये 60 विकार हुए।

घ्राण इन्द्रिय के दो विषयों के 12 विकार – 2 सचित्त, 2

अचित्त और 2 मिश्र। इन छह पर राग और छह पर द्वेष। ये 12 विकार हुए।

रसन इन्द्रिय के पांच विषयों के 60 विकार – 5 सचित्त, 5 अचित्त और 5 मिश्र। 15 शुभ और 15 अशुभ। 30 पर राग और 30 पर द्वेष। ये 60 विकार हुए।

स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषयों के 96 विकार – 8 सचित्त, 8 अचित्त और 8 मिश्र। 24 शुभ और 24 अशुभ, इस प्रकार 48 पर राग और 48 पर द्वेष। ये 96 विकार हुए।

●●●

बोल तेरहवाँ : दस प्रकार का मिथ्यात्व

1. जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व
2. अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व
3. धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व
4. अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व
5. साधु को असाधु समझना मिथ्यात्व
6. असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व
7. संसार-मार्ग को मोक्ष-मार्ग समझना मिथ्यात्व
8. मोक्ष-मार्ग को संसार-मार्ग समझना मिथ्यात्व
9. मुक्त को अमुक्त समझना मिथ्यात्व
10. अमुक्त को मुक्त समझना मिथ्यात्व

व्याख्या

जीव के विपरीत श्रद्धानरूप परिणाम को मिथ्यात्व कहा गया है। मिथ्यात्व संसार का बीज है, कारण है। जब तक आत्मा में

मिथ्यात्व का शल्य है, तब तक वह शुद्ध, निर्मल और मलमुक्त नहीं बन सकता।

अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि रखना, अधर्म में धर्म-बुद्धि रखना, अदेव में देव-बुद्धि रखना और अगुरु में गुरु-बुद्धि रखना, मिथ्यात्व है।

तत्त्व – यहाँ पर तत्व का अर्थ जीव, अजीव आदि तत्व समझना चाहिए।

देव – कर्म रूप शत्रु के विजेता, अष्टादश दोष-शून्य, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग अरिहंत भगवान् देव हैं।

गुरु – कनक और कान्ता के त्यागी, पञ्च महाव्रत के पालने वाले, पञ्च समिति और तीन गुप्ति के धारक सन्त गुरु हैं।

धर्म – सर्वज्ञ-भाषित, दयामय, विनय-मूलक, कर्म का नाश करने वाला और मोक्ष की ओर ले जाने वाला तत्व धर्म है।

यह वर्णन व्यवहार दृष्टि से किया गया है। निश्चय दृष्टि से तो आत्मा स्वयं ही देव है, स्वयं ही गुरु है, और स्वयं ही धर्म है।

प्रस्तुत बोल में दस प्रकार के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है। जीव को जीव और अजीव को अजीव समझना सम्यक्त्व है परन्तु जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार अजीव को जीव समझना भी मिथ्यात्व है। यथार्थ-दृष्टि सम्यक्त्व है और विपरीत-दृष्टि मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व मोक्ष का हेतु है, और मिथ्यात्व संसार का हेतु है।

इसी प्रकार धर्म और अधर्म, साधु और असाधु, संसार और मोक्ष तथा मुक्त और अमुक्त के विषय में भी समझ लें। यदि इनमें यथार्थ दृष्टि है, तो वह सम्यक्त्व है और यदि इनमें विपरीत दृष्टि है, तो वह मिथ्यात्व है।

●●●

बोल चौदहवाँ : नौ तत्त्व के 115 भेद

नौ तत्त्व

1. जीव तत्त्व	2. अजीव तत्त्व
3. पुण्य तत्त्व	4. पाप तत्त्व
5. आस्रव तत्त्व	6. संवर तत्त्व
7. निर्जरा तत्त्व	8. बन्ध तत्त्व
9. मोक्ष तत्त्व	

व्याख्या

यथार्थ सद् वस्तु को तत्त्व कहते हैं। ये नौ मूल तत्त्व हैं। जीव चेतनामय है। अजीव अचेतनामय है। पुण्य सुख देने वाला है। पाप दु:ख देने वाला है। आस्रव, शुभ और अशुभ कर्मों के आने का द्वार है। संवर, आस्रव का निरोध है। एक देश से कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है। बन्ध, आत्मा और कर्म पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध है। मोक्ष, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय है।

जीव तत्त्व के चौदह भेद

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।
द्वीन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।
त्रीन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।
असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त
संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद	पर्याप्त और अपर्याप्त।

व्याख्या

एकेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं – सूक्ष्म और बादर। व्यवहार दृष्टि से सूक्ष्म का अर्थ है – आँखों से न दिखने वाले जीव, और बादर का अर्थ है – स्थूल जीव। परन्तु शास्त्र की दृष्टि से जिन्हें सूक्ष्म नाम कर्म का उदय हो, वे सूक्ष्म और जिन्हें बादर नाम कर्म का उदय हो, वे बादर। बादर जीव के शरीर भी अलग-अलग नहीं देखे जाते। किन्तु वे समुदाय रूप में ही देखे जाते हैं। सूक्ष्म जीव संपूर्ण लोकव्यापी हैं। बादर लोक के एक देश में हैं।

अजीव तत्त्व के चौदह भेद

धर्मास्तिकाय के तीन भेद – 1. स्कन्ध, 2. देश, 3. प्रदेश

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद – 1. स्कन्ध, 2. देश, 3. प्रदेश

आकाशास्तिकाय के तीन भेद – 1. स्कन्ध 2. देश, 3. प्रदेश

(1. दशवां काल)

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद – 1. स्कन्ध, 2. देश, 3. प्रदेश, 4. परमाणु

व्याख्या

स्कन्ध – स्कन्ध के दो अर्थ हैं – एक तो अखण्ड वस्तु को स्कन्ध कहते हैं, दूसरा अलग-अलग अवयव एकत्रित होकर जो एक अवयवी अर्थात् एक समूह बन जाता है, उस समुदित अवस्था का नाम भी स्कन्ध है।

देश – स्कन्ध का एक कल्पित भाग।

प्रदेश – निरंश अंश, अर्थात् जिस अंश का दूसरा अंश नहीं हो सकता। यह स्कन्ध का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है।

परमाणु – प्रदेश और परमाणु एक ही हैं, परन्तु अन्तर इतना ही है कि जब तक वह स्कन्ध से संलग्न रहता है, तब तक प्रदेश और जब स्कन्ध से अलग हो जाता है, तब उसे परमाणु कहते हैं। **"स्कन्धसंयुक्तः प्रदेशः, स्कन्ध-विविक्तः परमाणुः।"**

पुद्गलास्तिकाय में स्कन्ध, देश, प्रदेश का व्यवहार स्पष्टतः परिलक्षित हो जाता है। किन्तु धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त पदार्थों में यह सब व्यवहार बुद्धि-परिकल्पित होता है। क्योंकि वे मूलतः अखण्ड पदार्थ हैं। अखण्ड पदार्थ अनादि-अनन्त होता है, वह

किन्हीं अवयवों से मिलकर नहीं बनता। अत: उसके देश और प्रदेश आदि मात्र बुद्धि-परिकल्पित ही होते हैं, वास्तविक नहीं। इसीलिए धर्मास्तिकाय आदि का चौथा भेद परमाणु नहीं माना गया है। परमाणु वही प्रदेश होता है, जो स्कन्ध से अलग होता है। और धर्मास्तिकाय आदि के बुद्धि-परिकल्पित प्रदेश तीन काल में कभी भी पृथक् नहीं होते।

काल के भेद-प्रभेद न बताकर मात्र 'दश्वां काल' इतना ही कहा गया है। इसका कारण यह है कि काल स्कन्ध नहीं है। अत: उसके देश और प्रदेश आदि किसी प्रकार के भी भेद-प्रभेद नहीं होते। तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्याय में काल को समय रूप कहा है, और वे समय अनन्त हैं।

पुण्य तत्त्व के नौ भेद

1. अन्न पुण्य	2. पान पुण्य	3. स्थान पुण्य
4. शय्या पुण्य	5. वस्त्र पुण्य	6. मन पुण्य
7. वचन पुण्य	8. काय पुण्य	9. नमस्कार पुण्य

व्याख्या

पुण्य सुख-रूप होता है। पुण्य क्या है? शुभ योग से बंधने वाला शुभ कर्म। पुण्य से आरोग्य, सम्पत्ति, रूप, कीर्ति, दीर्घ आयुष्य और सुपरिवार आदि सुख के साधन जीव को उपलब्ध होते हैं।

यहाँ पुण्य के जो नौ भेद किए गए हैं, वे वास्तव में पुण्य के भेद नहीं, किन्तु पुण्य के कारण हैं, जो नौ विभाग में विभक्त किए गए हैं।

जीव इन नौ कारणों से पुण्य का बन्ध कर सकता है। किसी दु:खित को अथवा सदाचारी व्यक्ति को स्थान, शय्या और वस्त्र देने से, शरीर से किसी की सेवा करने से, मधुर एवं हितकर वाणी बोलने से, शुभ विचारों का चिन्तन करने से और किसी पूज्य पुरुष को वन्दन करने से पुण्य का अर्जन होता है।

पुण्य मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यश आदि 42 प्रकार से भोगा जाता है। पुण्य को बांधते समय दु:ख और भोगते समय सुख मिलता है। आत्म-विकास में पुण्य कथंचित् निमित्त है, अत: उपादेय है, परन्तु साधना की उच्च अवस्था में पुण्य भी हेय है।

पाप तत्त्व के अठारह भेद

1. प्राणातिपात (हिंसा)
2. मृषावाद (झूठ)
3. अदत्तादान (चोरी)
4. मैथुन (व्यभिचार)
5. परिग्रह (ममताभाव)
6. क्रोध
7. मान
8. माया
9. लोभ
10. राग (मनोज्ञ वस्तु पर स्नेह)
11. द्वेष (अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष)
12. कलह (क्लेश, झगड़ा)
13. अभ्याख्यान (झूठा कलंक लगाना)
14. पैशुन्य (दूसरे की चुगली करना)

15. पर-परिवाद (अवर्णवाद, निन्दा)
16. रति-अरति (शब्दादि मनोज्ञ पर प्रीति, अमनोज्ञ पर अप्रीति)
17. माया मृषा (कपट-सहित मिथ्या भाषण)
18. मिथ्यादर्शन शल्य (कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा)

व्याख्या

अशुभ योग से बँधने वाले अशुभ कर्म को पाप कहते हैं। क्योंकि वह आत्मा को मलिन बनाता है। पाप के उदय से जीव को दु:ख और पीड़ा मिलती है। पाप बाँधते समय सुखकर किन्तु भोगते समय दु:खकर प्रतीत होता है।

अठारह प्रकार से पाप बांधा जाता है, और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय, मोहनीय, नरक गति, तिर्यंचगति, अशुभ वर्ण आदि 82 प्रकार से भोगा जाता है। पापस्थानों के सेवन से जीव भारी हो जाता है, और नीच गति में जाता है। इनके त्याग से जीव हल्का हो जाता है और उच्च गति प्राप्त करता है। पाप हेय ही होता है, कभी उपादेय नहीं होता।

पाप तत्त्व के ये अठारह भेद पाप बन्ध के कारण हैं। कारण में कार्य का उपचार मानकर ही पाप तत्व के भेद बताए गए हैं।

आस्रव तत्त्व के बीस भेद

पाँच अव्रत

1. प्राणातिपात
2. मृषावाद
3. अदत्तादान
4. मैथुन
5. परिग्रह

पाँच इन्द्रिय

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति
2. चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति
3. घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति
4. रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति
5. स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति

पाँच आस्रव

1. मिथ्यात्व आस्रव
2. अविरति आस्रव
3. प्रमाद आस्रव
4. कषाय आस्रव
5. अशुभ योग आस्रव

तीन योग

1. मनः प्रवृत्ति
2. वचन प्रवृत्ति
3. काय प्रवृत्ति

दो अयतना

1. भाण्डोपकरण अयतना से लेना, रखना।
2. सूचि कुशाग्र मात्र अयत्ना से लेना, रखना।

व्याख्या

जिन कारणों के द्वारा आत्मा में कर्म मल आता है, वे कारण आस्रव कहलाते हैं। जीव रूप तालाब में, कर्म-रज रूप जल, हिंसा, असत्य आदि आस्रव-द्वार रूप नालों से आता रहता है। आस्रव से आत्मा मलिन बनता है क्योंकि आस्रव से कर्मों का निरन्तर सञ्चय होता रहता है।

हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना और परिग्रह का संचय करना – ये पाँच अव्रत रूप आस्रव हैं।

पांच इन्द्रियों को यदि वश में नहीं रखा जाता, उनका निग्रह नहीं किया जाता, उन पर संयम का अंकुश नहीं रखा जाता, यदि वे खुली छोड़ दी जाती हैं, तो वे कर्मबन्ध में निमित्त होने से आस्रव रूप हैं।

विपरीत श्रद्धान, अविरति (असंयम), प्रमाद, कषाय और अशुभ योग – ये पाँचों आस्रव रूप हैं।

मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति भी आस्रव रूप है। कर्म-बन्धन का कारण है।

रजोहरण, पात्र आदि भाण्डोपकरण और कुश = तृण, सूचि = सूई, पाट आदि अन्य कोई भी वस्तु यदि अविवेक से ली जाती है और अविवेक से रखी जाती है, तो यह भी आस्रव है।

इन बीस कारणों से आत्मा कर्मों का संचय करता है, अतः ये आस्रव हैं। आस्रव संसार का कारण है। इससे संसार की वृद्धि होती है।

संवर के बीस भेद

पाँच व्रत

1. प्राणातिपात विरमण
2. मृषावाद विरमण
3. अदत्तादान विरमण
4. अब्रह्मचर्य विरमण
5. परिग्रह विरमण

पाँच इन्द्रिय

1. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह
2. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह
3. घ्राणेन्द्रिय निग्रह
4. रसनेन्द्रिय निग्रह
5. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह

पाँच संवर

1. सम्यक्त्व संवर
2. व्रत संवर
3. अप्रमाद संवर
4. अकषाय संवर
5. शुभयोग संवर

तीन योग

1. मनो निग्रह
2. वचन निग्रह
3. काय निग्रह

दो यतना

1. भाण्डोपकरण यतना से लेना, रखना।
2. सूचि कुशाग्र मात्र, यतना से लेना, रखना।

व्याख्या

आस्रव का निरोध संवर है। संवर आस्रव का विरोधी तत्व है। संवर का अर्थ है, संवरण अर्थात् संयम। जिन कारणों से आस्रव को रोका जाता है, वे संवर कहे जाते हैं।

जीव रूप तालाब में, कर्म-रज रूप जल को आने से संवर रूप डाट के द्वारा रोकना, उसे संवर कहते हैं। संवर से आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनता है। क्योंकि संवर की साधना से कर्म मल आत्मा में नहीं आ पाता।

हिंसा से विरति, असत्य से विरति, चोरी से विरति, अब्रह्मचर्य से विरति और परिग्रह से विरति – ये पाँच व्रत रूप संवर हैं। संवर धर्म का कारण है।

पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना, उनकी अशुभ प्रवृत्ति को रोकना – यह पाँच इन्द्रियों का निरोधरूप संवर है। निगृहीत इन्द्रिय संवररूप हैं।

यथार्थ श्रद्धान, विरति (व्रत), अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग – ये पाँच संवर हैं। क्योंकि इनसे आत्मा की शुद्धि होती है।

मनो-निरोध, वचन-निरोध और काय-संयम – ये तीनों भी संवर रूप हैं। इन तीनों योगों का शुभत्व संवर है।

यदि तत्त्व-दृष्टि से देखा जाए, तो योग मात्र आस्रव है। भले ही वह शुभ हो या अशुभ। शुभ योग पुण्यास्रव है और अशुभ योग पापास्रव। यहाँ शुभ योग को जो संवर कहा है, वह अशुभ से निवृत्ति-रूप है। अतः शुभ की शुद्धांश में लक्षणा है।

रजोहरण, पात्र आदि भाण्डोपकरण तथा सूई आदि अन्य किसी भी वस्तु को यतना से लेना और यतना से रखना – यह भी संवर है।

इन बीस कारणों से आत्मा आस्रव को रोकता है। अतः ये संवर हैं। संवर मोक्ष का कारण है। इसकी शुद्ध साधना से संसार के बन्धन कट जाते हैं।

निर्जरा तत्त्व के बारह भेद

1. अनशन तप (उपवास आदि)
2. ऊनोदरी तप (भूख से कम खाना)
3. भिक्षाचरी तप (निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना।

4. रसपरित्याग तप (सुस्वादु भोजन का त्याग)
5. कायक्लेश तप (वीरासन आदि करना)
6. प्रतिसंलीनता तप (एकान्त शय्यासन)
7. प्रायश्चित्त तप (दोषों की आलोचनादि के द्वारा शुद्धि)
8. विनय तप (गुरु आदि की भक्ति)
9. वैयावृत्य तप (आचार्य आदि की सेवा)
10. स्वाध्याय तप (शास्त्र वाचनादि)
11. ध्यान तप (मन की एकाग्रता)
12. व्युत्सर्ग तप (शरीर के व्यापार आदि का त्याग)

व्याख्या

कर्म-वर्गणा का आत्मा से एक देश से दूर हो जाना, निर्जरा है। जीव रूप वस्त्र को कर्म रूप मल लगा हुआ है। ज्ञान रूप जल और तप रूप साबुन से उसको शुद्ध किया जाता है। यह निर्जरा तत्व को समझने के लिए एक रूपक है।

निर्जरा दो प्रकार की है – सकाम और अकाम। संवर-पूर्वक निर्जरा सकाम है, और बिना विवेक के, बिना संयम के जो कष्ट सहन किया जाता है, वह अकाम निर्जरा है।

बद्ध कर्मों का क्षय तप से होता है। अत: निर्जरा की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत बोल में अनशन आदि छह प्रकार का बाह्य तप और प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार का आभ्यन्तर तप बताया गया है।

यह तप कर्म-निर्जरा का हेतु है, कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से यहाँ पर तप को निर्जरा कहा गया है।

कर्म परमाणुओं का आत्मा से एक देश से दूर हो जाना निर्जरा है, और सर्वथा कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। देश-मुक्ति निर्जरा और सर्व-मुक्ति मोक्ष है।

बन्ध तत्त्व के चार भेद

1. प्रकृति बन्ध **2. स्थिति बन्ध**

3. अनुभाग बन्ध **4. प्रदेश बन्ध**

व्याख्या

कर्म-वर्गणा और आत्मा का अन्योऽन्यानुप्रवेश रूप जो परस्पर सम्बन्ध है, वह बन्ध कहाता है। कषाय और योग से जीव कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। नीर और क्षीर की तरह अथवा अग्नि और लौह पिण्ड की तरह कर्म-पुद्गल और आत्म-प्रदेशों का जो एकीभाव है, उसे बन्ध कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूल में लेटता है, तो धूल उसके शरीर के चिपक जाती है। इसी प्रकार कषाय और योग से आत्म-प्रदेश में जब कम्पन होता है, तब आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है। बन्ध तत्व के चार भेद हैं–

प्रकृति बन्ध – जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गल में ज्ञानावरणादि रूप भिन्न-भिन्न स्वभाव का अर्थात् शक्ति का पैदा होना।

स्थिति बन्ध – जीव के द्वारा ग्रहण किए कर्म पुद्‌गल में अमुक काल तक अपने स्वभाव का परित्याग न करते हुए जीव के साथ लगे रहने की काल मर्यादा।

अनुभाग बन्ध – जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्‌गल में तीव्र एवं मन्द फल देने की शक्ति। इसको अनुभाव बन्ध और रस बन्ध भी कहते हैं।

प्रदेश बन्ध – जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्‌गल के परमाणुओं का कम या अधिक होना अर्थात् जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कन्ध का सम्बन्ध होना।

इन चार बन्धों में से प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग से होता है, और स्थिति-बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होता है।

कर्म बन्ध के पाँच हेतु हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। परन्तु मुख्य दो हैं – कषाय और योग।

मोक्ष तत्त्व

1. सम्यक् ज्ञान **2. सम्यक् दर्शन**

3. सम्यक् चारित्र **4. सम्यक् तप**

व्याख्या

नौ तत्त्वों में यह अन्तिम तत्त्व है। संवर और निर्जरा की साधना से आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

बन्ध और बन्ध के कारणों का जब अभाव हो जाता है, और जब आत्म-विकास पूर्ण हो जाता है, तब आत्मा की उस सर्वथा

और सर्वदा शुद्ध स्थिति को मोक्ष कहा जाता है। आत्म-गुणों का पूर्ण विकास ही वस्तुतः मोक्ष है।

मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण – ये तीनों एकार्थक शब्द हैं। कर्म-बद्ध आत्मा का कर्म-मुक्त हो जाना – यह मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की एक पूर्ण अखण्ड शुद्ध अवस्था है। जहाँ पूर्णता होती है, वहाँ विभिन्न प्रकार के भेद एवं प्रकार नहीं होते। इसीलिए प्रस्तुत में मोक्ष तत्व के भेद बताते हुए उसकी प्राप्ति के चार साधन बताए गए हैं।

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के उपर्युक्त चार साधन शास्त्र में कहे गए हैं – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और विवेक पूर्वक तप। जीव इन साधनों से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। वह जो अधोगमन और तिर्यग् गमन करता है, उसमें जीव के कर्म कारण हैं। जैसे लेप-सहित तुम्बा जल में नीचे बैठ जाता है, परन्तु उस पर से मिट्टी का लेप हट जाने से वही तुम्बा ऊपर अर्थात् जल की सतह पर आ जाता है। यही स्थिति आत्मा की भी है। कर्म-सहित आत्मा नीचे अधोगति में जाता है, और कर्म-रहित होने पर वही आत्मा अपनी सहज स्वभाव गति से मोक्ष पा लेता है।

एक बार जब आत्मा मुक्त हो जाता है, तो फिर वह कभी संसार में नहीं आता। क्योंकि मुक्त आत्मा में संसार का कारण ही नहीं रहता। जैसे दग्ध बीज को कितना भी पानी दिया जाए, कितनी

भी उर्वर भूमि में बोया जाए, वह कभी अंकुरित नहीं हो सकता। वैसे ही जिस आत्मा में बन्ध और बन्ध के कारणों का अभाव हो गया है, जो मुक्त हो गया है, वह फिर कभी संसार में नहीं आता।

जिन जीवों में मोक्ष पाने की योग्यता है, वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, उनको भव्य कहते हैं। जिन जीवों में मोक्ष पाने की योग्यता नहीं, वे अभव्य हैं।

नौ तत्त्वों में मुख्य तत्त्व दो हैं – जीव और अजीव। शेष सभी तत्त्व जीव और अजीव की पर्याय-विशेष ही हैं। उनका अपना पदार्थ रूप से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है।

जिसमें चेतना है, वह जीव है; और जिसमें चेतना नहीं, वह अजीव है। ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

पुण्य और पाप का समावेश अजीव तत्त्व में हो जाता है। क्योंकि पुण्य और पाप पुद्गल रूप हैं। पुण्य शुभ पुद्गल और पाप अशुभ पुद्गल हैं।

अथवा इन दोनों का अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध में भी किया जा सकता है। शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव तथा शुभ बन्ध और अशुभ बन्ध। इनमें शुभ पुण्य है और अशुभ पाप है।

आस्रव और बन्ध तत्व तो स्पष्ट ही पुद्गल हैं, पुद्गल की पर्याय विशेष ही हैं। अतः इनका समावेश अजीव तत्व में हो जाता है। इस प्रकार पुण्य और पाप, आस्रव और बन्ध – ये चार तत्त्व अजीव तत्त्व में आ जाते हैं।

संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये तीनों जीवों की ही पर्याय-विशेष हैं। संवर जीव की आस्रव-निरोध रूप शुद्धि है। निर्जरा भी अंशतः कर्म-क्षय रूप एक प्रकार की शुद्धि ही है, और मोक्ष तो जीव की पूर्ण शुद्धि का ही नाम है। अतः संवर, निर्जरा और मोक्ष का समावेश जीव तत्त्व में हो जाता है।

अतः संक्षेप में दो ही तत्त्व हैं – जीव और अजीव। शेष इन दोनों का ही विस्तार है।

इन नौ तत्त्वों को ज्ञेय, उपादेय और हेय इन तीन भागों में भी विभक्त किया जा सकता है।

जीव और अजीव ज्ञेय हैं। पाप, आस्रव और बन्ध हेय हैं। पुण्य कथंचित् हेय और कथंचित् उपादेय है। संवर, निर्जरा तथा मोक्ष उपादेय हैं। ज्ञेय वह है, जो जानने के योग्य है। उपादेय वह है, जो ग्रहण करने के योग्य है। हेय वह है, जो छोड़ने के योग्य है।

●●●

बोल पन्द्रहवाँ : आत्मा आठ

1. द्रव्य आत्मा	**2. कषाय आत्मा**
3. योग आत्मा	**4. उपयोग आत्मा**
5. ज्ञान आत्मा	**6. दर्शन आत्मा**
7. चारित्र आत्मा	**8. वीर्य आत्मा**

व्याख्या

आत्मा एक शाश्वत तत्त्व है। वह अतीत में भी था, वर्तमान में भी है, और भविष्य में भी रहेगा। उसकी न उत्पत्ति है और न उसका विनाश है। फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता, कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता ही नहीं। द्रव्य से नित्य होकर भी आत्मा पर्याय से अनित्य है, परिवर्तनशील है। जीव के परिणामों का कोई अन्त नहीं है। प्रस्तुत बोल में मुख्यतः आत्माओं की आठ स्थितियों का वर्णन है।

द्रव्य आत्मा – आत्मा असंख्यात प्रदेशों का समुदाय है। आत्मा अखण्ड है, वह कोई असंख्य प्रदेशों से संयुक्त रूप में

निर्मित नहीं हुआ है। प्रदेश, कल्पनामात्र बुद्धि-परिकल्पित हैं। ये प्रदेश आत्मा से पृथक्तया विभाजित नहीं किए जा सकते।

कषाय आत्मा – कषाय चार हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। कषाययुक्त आत्मा को कषाय आत्मा कहा है। उपशान्त और क्षीण कषाय आत्माओं को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीवों में यह आत्मा होती है।

योग आत्मा – योग मन, वचन एवं काय का व्यापार है। योग-युक्त आत्मा को योग आत्मा कहते हैं। अयोगी केवली और सिद्धों में यह आत्मा नहीं होती। शेष सभी जीव योग वाले हैं।

उपयोग आत्मा – उपयोग अर्थात् ज्ञान और दर्शन। उपयोग-युक्त आत्मा को उपयोग आत्मा कहते हैं। उपयोग आत्मा सिद्ध और संसारी सभी जीवों में होती है। क्योंकि उपयोग आत्मा का लक्षण है। अतः उपयोग-शून्य कोई आत्मा नहीं हो सकती।

ज्ञान आत्मा – ज्ञान आत्मा का निज गुण है। ज्ञान-युक्त आत्मा को ज्ञान आत्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवों में है। परन्तु जब ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान करें, तब यह आत्मा केवल सम्यग्दृष्टि जीवों में रहेगी। क्योंकि मिथ्या दृष्टि में ज्ञान नहीं, अज्ञान होता है।

दर्शन आत्मा – दर्शन अर्थात् सामान्य बोध। दर्शन-युक्त आत्मा को दर्शन आत्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवों में होती है। अथवा सम्यग्दर्शन रूप आत्मा सम्यग् दृष्टि जीवों में ही होती है।

चारित्र आत्मा – चारित्र अर्थात् अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। चारित्र युक्त आत्मा को चारित्र आत्मा कहते हैं। यह आत्मा विरति-सम्पन्न जीवों में होती है।

वीर्य आत्मा – वीर्य अर्थात् जीव की शक्ति-विशेष। वीर्य-युक्त आत्मा को वीर्य आत्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवों में होती है। अन्तर केवल इतना ही है, कि संसारी आत्माओं का वीर्य, सकरण अर्थात् क्रियारूप वीर्य है, और सिद्ध आत्माओं का वीर्य, लब्धि अर्थात् शक्ति रूप वीर्य है।

●●●

बोल सोलहवाँ : दण्डक चौबीस

सात नरक का एक दण्डक – 1. रत्न प्रभा, 2. शर्करा प्रभा, 3. बालुका प्रभा, 4. पंक प्रभा, 5. धूम प्रभा, 6. तमः प्रभा, 7. महातमः प्रभा

दश भवन-पति के दश दण्डक – 1. असुरकुमार, 2. नागकुमार, 3. सुपर्णकुमार, 4. विद्युतकुमार, 5. अग्निकुमार, 6. द्वीपकुमार, 7. उदधिकुमार, 8. दिशाकुमार, 9. पवनकुमार, 10. स्तनितकुमार।

पांच स्थावर के पाच दण्डक – 1. पृथ्वी काय, 2. अप् काय, 3. तेजस् काय, 4. वायु काय, 5. वनस्पति काय।

तीन विकलेन्द्रिय के तीन दण्डक – 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय

अन्तिम पांच दण्डक – 1. तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का एक दण्डक, 2. मनुष्य का एक दण्डक, 3. व्यन्तर देव का एक दण्डक, 4. ज्योतिष देव का एक दण्डक, 5. वैमानिक देव का एक दण्डक।

व्याख्या

जीव अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के कारण शुभाशुभ कर्मों का संचय करता रहता है। फिर उन शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए चार गतियों में परिभ्रमण करता है। अतः जहां जीव स्वकृत कर्मों का फल भोगता है, उसे दण्ड कहते हैं। अर्थात् कर्म फल या दण्ड भोगने के स्थान को इस बोल में 24 भागों में विभक्त करके उन स्थानों का नाम दण्डक रख दिया गया है।

नरक गति का दण्डक एक, तिर्यञ्च गति के नौ, मनुष्य गति का एक और देवगति के तेरह। इस प्रकार सब मिलाकर चौबीस दण्डक होते हैं।

●●●

बोल सत्रहवाँ : लेश्या छह

1. कृष्ण लेश्या
2. नील लेश्या
3. कापोत लेश्या
4. तेजो लेश्या
5. पद्म लेश्या
6. शुक्ल लेश्या

व्याख्या

जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहते हैं। अथवा जिस परिणाम से कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या के दो भेद हैं – भाव और द्रव्य। भाव लेश्या विचार रूप और द्रव्य लेश्या पुद्गल रूप होती है।

अथवा लेश्या के दो भेद हैं – धर्म लेश्या और अधर्म लेश्या। पहले की तीन अधर्म लेश्या और अगली तीन धर्म लेश्या हैं। इनको अशुभ लेश्या और शुभ लेश्या भी कहते हैं।

कृष्ण लेश्या

अतिरौद्रः सदा क्रोधी, मत्सरी धर्म-वर्जितः।
निर्दयी वैर-संयुक्तः, कृष्ण-लेश्याऽधिको नरः॥

कृष्ण लेश्या वाले जीव के विचार अत्यन्त क्रूर होते हैं, वह क्रोधी होता है, ईर्ष्यालु होता है, उसका जीवन धर्म-शून्य होता है, वह दया-रहित होता है, और उसके मन में सदा वैर-विरोध की भावना रहती है।

नील लेश्या

अलसो मन्द-बुद्धिश्च, स्त्री-लुब्धः पर-वञ्चकः।
कातरश्च सदा मानी, नील-लेश्याऽधिको नरः॥

नील लेश्या वाला जीव आलसी, मन्द बुद्धि वाला, कामुक, मायावी, डरपोक और सदा अभिमानी होता है।

कापोत लेश्या

शोकाकुलः सदा रुष्टः, पर निंदात्मशंसकः।
संग्रामे प्रार्थते मृत्युं, कापोत लेश्याधिको नरः॥

कापोत लेश्या वाला जीव शोक से व्याकुल रहता है, सदा क्रोध में भरा रहता है। पर-निन्दा और स्व-प्रशंसा किया करता है, और संग्राम में जाकर कायर बन जाता है, मृत्यु चाहता रहता है।

तेजो लेश्या

विद्यावान् करुणा-युक्तः, कार्याऽकार्य विचारकः।
लाभाऽलाभे सदा प्रीतः, तेजो लेश्याधिको नरः॥

तेजो लेश्या वाला जीव विद्या-प्रेमी होता है, करुणाशील होता है, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में विवेक रखता है और लाभ तथा अलाभ में सदा प्रसन्न रहता है।

पद्म लेश्या

क्षमावान् निरतस्त्यागे, गुरु-देवेषु भक्तिमान्।
शुद्ध-नित्तः सदाऽऽनन्दी, पद्म-लेश्याधिको नरः॥

पद्म लेश्या वाला जीव क्षमाशील और त्याग-निरत होता है, देव और गुरु की भक्ति करता है, उसका चित्त सदा प्रसन्न रहता है, और वह सदा प्रमुदित रहता है।

शुक्ल लेश्या

राग-द्वेष-विनिर्मुक्तः, शोक-निन्दा-विवर्जितः।
परमात्मभावसम्पन्नः, शुक्ल-लेश्याधिको नरः॥

शुक्ल लेश्या वाला जीव राग और द्वेष से रहित होता है। अथवा मन्द राग और मन्द द्वेष वाला होता है। वह शोक और निन्दा के वेग से भी परे रहता है। परम शुक्ल लेश्या वाला अन्ततः परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा परम शुद्ध आत्मा होती है।

●●●

बोल अठारहवाँ : दृष्टि तीन

1. सम्यग् दृष्टि 2. मिथ्या दृष्टि 3. मिश्र दृष्टि

व्याख्या

यहां पर दृष्टि का अर्थ है – दर्शन। संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें इन तीन दृष्टियों में से एक न एक दृष्टि अवश्य मिलती है। ये दृष्टियाँ समुच्चयरूप में चारों गतियों के जीवों में उपलब्ध होती हैं।

सम्यग् दृष्टि – मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय से, उपशम से अथवा क्षयोपशम से आत्मा में जो एक आत्मानुलक्षी शुद्ध परिणाम उत्पन्न होता है, उसे सम्यग् दृष्टि कहते हैं।

मिथ्या दृष्टि – मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव में जब अदेव में देव-बुद्धि, अधर्म में धर्म-बुद्धि और अगुरु में गुरु-बुद्धि हो जाती है, तब उस दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहते हैं।

मिश्र दृष्टि – मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में जो सत्यासत्य मिश्रित दोलायमान स्थिति पैदा होती है, उसे मिश्र दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टि में जीव न एकान्त सत्योन्मुख होता है, और न एकान्त असत्योन्मुख। किन्तु सत्य और असत्य से विलक्षण एक भिन्न मिश्रित-सी अवस्था होती है। ●●●

बोल उन्नीसवाँ : ध्यान चार

1. आर्त ध्यान
2. रौद्र ध्यान
3. धर्म ध्यान
4. शुक्ल ध्यान

व्याख्या

चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। अपनी चिन्तन-धारा को अनेक विषयों से समेटकर किसी एक वस्तु या विषय पर एकाग्र कर लेना, स्थिर कर लेना ही ध्यान है।

ध्यान चार प्रकार का है। पहले दो ध्यान संसार के कारण हैं। अत: वे हेय हैं, त्याज्य हैं। अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं। अत: वे उपादेय हैं, ग्रहण करने योग्य हैं।

ध्यान, ध्याता और ध्येय – इसको त्रिपुटी कहते हैं। ध्यान करने वाला ध्याता होता है। ध्येय अर्थात् जिसका ध्यान किया जाए, जिसका चिन्तन किया जाए। ध्याता ध्यान के द्वारा ध्येय को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसको ध्यान की साधना कहते हैं।

ध्यान के दो भेद हैं – अशुभ और शुभ। पहले के दो ध्यान अशुभ हैं, आगे के दो ध्यान शुभ हैं।

आर्त ध्यान – मनोज्ञ एवं प्रिय वस्तु के वियोग में और अमनोज्ञ एवं अप्रिय वस्तु के संयोग में, चित्त में जो एक प्रकार की अनवरत एकाग्र चिन्तना होती है, उसको आर्त ध्यान कहते हैं।

रौद्र ध्यान – हिंसा में, असत्य में, चोरी में और धन आदि के ममत्वभाव में, मन को एकाग्र करना, मन को जोड़ना, रौद्र ध्यान है। इसमें परिणाम अत्यन्त क्रूर होते हैं। इसमें जीव के रुद्र अर्थात् भयंकर एवं निर्दय भाव रहते हैं, अतः इसको रौद्र ध्यान कहते हैं।

धर्म ध्यान – जिसमें श्रुत और चारित्र रूप धर्म का चिन्तन किया जाता है, उसे धर्म ध्यान कहते हैं। सूत्रार्थ का चिन्तन करना, व्रतों का विचार करना तथा संसार की असारता का मनन करना – यह धर्म ध्यान है।

शुक्ल ध्यान – जो ध्यान कर्म-मल को तीव्र गति से दूर करता है, वह शुक्ल ध्यान है। अथवा पर-अवलम्बन के बिना निर्मल आत्म-स्वरूप का अखण्ड-चिन्तन शुक्ल ध्यान है।

●●●

बोल बीसवाँ : षड्द्रव्य के तीस भेद

धर्मास्तिकाय के पाँच भेद

1. द्रव्य से एक
2. क्षेत्र से लोक-प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त रहित
4. भाव से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, अरूपी, अजीव, शाश्वत, लोक-व्यापी
5. गुण से चलन गुण, जल में मछली का दृष्टान्त

अधर्मास्तिकाय के पाँच भेद

1. द्रव्य से एक
2. क्षेत्र से लोक-प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त रहित
4. भाव से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहित, अरूपी, अजीव, शाश्वत, लोक-व्यापी।
5. गुण से स्थिर गुण, श्रान्त पथिक को छाया का दृष्टान्त।

आकाशास्ति काय के पाँच भेद

1. द्रव्य से एक
2. क्षेत्र से लोकालोक-प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त-रहित
4. भाव से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, अरूपी, अजीव, शाश्वत, सर्व-व्यापी।
5. गुण से अवकाश-दान गुण, दूध में बताशे का दृष्टान्त।

काल द्रव्य के पाँच भेद

1. द्रव्य से एक
2. क्षेत्र से अढ़ाई द्वीप प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त-रहित
4. भाव से वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-रहित, अरूपी, शाश्वत, अढाई द्वीप वर्ती।
5. गुण से वर्तना गुण, नये को पुराना करे, नये-पुराने कपड़े का दृष्टान्त।

जीवास्तिकाय के पाँच भेद

1. द्रव्य से अनन्त
2. क्षेत्र से लोक-प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त-रहित
4. भाव से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, अरूपी, जीव, शाश्वत, लोकवर्ती
5. गुण से उपयोग गुण, चन्द्र की कला का दृष्टान्त।

पुद्गलास्तिकाय के पाँच भेद

1. द्रव्य से अनन्त
2. क्षेत्र से लोक-प्रमाण
3. काल से आदि-अन्त-रहित
4. भाव से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-सहित, रूपी, अजीव, शाश्वत, लोकवर्ती
5. गुण से पूरण-गलन गुण, मिलते-बिखरते बादल का दृष्टान्त

व्याख्या

प्रस्तुत बोल में षड् द्रव्य का निरूपण किया गया है। द्रव्य, पदार्थ और वस्तु – ये एकार्थवाची शब्द हैं। जिसमें गुण और पर्याय रहते हैं, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है और द्रव्य का क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है। द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। द्रव्य के बिना गुण और पर्याय नहीं, और गुण एवं पर्याय के बिना द्रव्य नहीं। गुण नित्य होता है, और पर्याय क्षणिक।

चेतना-शून्य तत्त्व को अजीव कहते हैं। अजीव के पाँच भेद हैं – धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

धर्म – गति-शील तत्त्वों की गति में सहायक जो तत्त्व है, वह धर्म है। गति-शक्ति जीव और पुद्गल की अपनी है, परन्तु धर्म उसमें निमित्त कारण, सहकारी कारण बन जाता है। धर्म के बिना जीव और पुद्गल स्वभावतः गतिशील होते हुए भी गति नहीं कर

सकते। जैसे मछली में तैरने की शक्ति होने पर भी वह जल के बिना नहीं तैर सकती।

अधर्म – स्थितिशील तत्त्वों में स्थिति में सहायक जो तत्त्व है, वह अधर्म है। जीव और पुद्गल दोनों में स्थित होने का अपना स्वभाव है, पर उसमें निमित्त अधर्म है। जैसे पथिक के लिए वृक्ष की छाया। ठहरता तो पथिक स्वयं ही है, परन्तु छाया उसमें निमित्त कारण, सहकारी कारण बन जाती है। ठीक इसी प्रकार जीव एवं पुद्गल में ठहरने का स्वभाव है, परन्तु अधर्म उसमें निमित्त है। बिना इसके कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं हो सकता।

आकाश – जो अवकाश देता है, आश्रय देता है, वह आकाश है। आकाश सबका आधार है, शेष सभी द्रव्य आधेय हैं। व्यवहार दृष्टि से त्रस एवं स्थावर जीवों का आधार पृथ्वी, पृथ्वी का आधार जल, जल का आधार वायु और वायु का आधार आकाश है, आकाश का अन्य कोई आधार नहीं। वह आप ही अपना आधार है। क्योंकि उससे बड़ा कोई पदार्थ नहीं। तत्त्वतः आकाश ही पृथ्वी, जल, वायु आदि सभी जीव-अजीव को अपने में अवकाश देता है, आश्रय देता है, जैसे दूध से भरे कटोरे में बताशा। जिस प्रकार दूध में बताशा समा जाता है, वैसे ही सब पदार्थ आकाश में समाये हुए हैं।

आकाश के दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश। जहाँ तक धर्म और अधर्म आदि हैं, वह लोकाकाश, शेष अलोकाकाश।

काल – काल अर्थात् समय। जो पुरानी वस्तु को नयी और नयी को पुरानी करता है, वह काल है। समय, पल, घड़ी, दिन और रात–ये सब काल के कार्य हैं। पदार्थों की जो प्रतिक्षण पर्याय बदल रही है, उसका निमित्त अर्थात् सहकारी कारण काल है।

जीव – चेतनामय तत्त्व जीव है। उपयोग जीव का लक्षण है। यह लक्षण संसारी जीव और मुक्त जीव सभी में घटित होता है। जीव कभी उपयोग–शून्य नहीं हो सकता। जीव के मुख्य रूप में दो भेद हैं – संसारी और मुक्त। समग्र चैतन्य तत्त्व का इन दो भेदों में समावेश हो जाता है।

पुद्गल – जिसमें पूरण, अर्थात् मिलन और गलन अर्थात् पृथक् एवं संयुक्त होने का स्वभाव है, वह पुद्गल है। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श – ये चार गुण हों, वह पुद्गल है 'पुद्' और 'गल्' इन दो धातुओं के संयोग से पुद्गल शब्द बना है जिसका अर्थ है संश्लेष और विश्लेष। ईंट, पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि – ये सब पुद्गल हैं।

इन षड् द्रव्यों में एक काल को छोड़ कर शेष सभी अस्ति-काय-रूप हैं। अस्ति अर्थात् प्रदेश, काय अर्थात् समूह। ये पाँचों द्रव्य, प्रदेश-समूहात्मक हैं। अतः ये अस्तिकाय कहे जाते हैं। परन्तु काल के प्रदेश नहीं होते। अतः काल अस्तिकाय नहीं है। अस्तिकाय द्रव्य पाँच हैं – धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल।

●●●

बोल इक्कीसवाँ : राशि दो

1. जीव-राशि 2. अजीव-राशि

व्याख्या

राशि का अर्थ है – समूह। प्रस्तुत बोल में संसार की समस्त वस्तु – चेतन और अचेतन – दो समूहों में विभक्त हैं – जीव-राशि और अजीव-राशि। संसार में कोई वस्तु ऐसी शेष नहीं रह जाती, जो इन दो राशि में न आ सके। संसारी से लेकर सिद्ध तक, और सिद्ध से लेकर संसारी जीव तक, समस्त चेतनामय शक्तियों का समावेश हो जाता है – जीव-राशि में। धर्म, अधर्म आदि समस्त जड़ तत्त्वों का समावेश हो जाता है – अजीव-राशि में।

जीव-राशि – जो चेतना-शक्ति से युक्त हो, वह जीव है। जीवों की राशि को, जीवों के समुदाय को जीव-राशि कहते हैं। जीव के दो भेद हैं – बद्ध और मुक्त। जीव-राशि में दोनों प्रकार के जीवों का समावेश हो जाता है।

अजीव-राशि – चेतना-रहित जितने भी तत्त्व हैं, उनके समुदाय को अजीव राशि कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल – ये सब अजीव-राशि में आ जाते हैं। ●●●

बोल बाईसवाँ : श्रावक के बारह व्रत

पाँच अणुव्रत

1. अहिंसा अणुव्रत
2. सत्य अणुव्रत
3. अस्तेय अणुव्रत
4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत
5. अपरिग्रह अणुव्रत

तीन गुणव्रत

1. दिशा परिमाण व्रत
2. भोगोपभोग परिमाण व्रत
3. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

चार शिक्षा व्रत

1. सामायिक व्रत
2. देशावकाशिक व्रत
3. पौषध व्रत
4. अतिथि-संविभाग व्रत

व्याख्या

शास्त्र में सीमित रूप में पाले जाने वाले अहिंसा आदि धर्म को 'श्रावक-धर्म' कहा है। गृहस्थ-धर्म का अर्थात् गृहस्थोचित

सम्यक् आचार का पालन करने वाला पुरुष 'श्रावक' और स्त्री 'श्राविका' कहलाती है।

श्रावक शब्द श्रवण अर्थ वाले 'श्रु' धातु से बना है। जो श्रवण करें, अर्थात् जो आत्म-कल्याण के प्रशस्त मार्ग को सुनें, वे श्रावक और श्राविका कहे जाते हैं। इनको उपासक और उपासिका भी शास्त्र में कहा गया है।

पाँच अणुव्रत

हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह – ये प्रमुख पाप हैं। साधक का कर्त्तव्य है कि वह इन पांच पापों से बचकर चले। परन्तु गृहस्थ साधक इन पाँच पापों का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता है।

वह स्थूल हिंसा का त्याग कर सकता है, सूक्ष्म हिंसा का नहीं। पांच स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग वह नहीं कर सकता। त्रस जीवों में भी वह निरपराध जीव की हिंसा का त्याग कर सकता है, सापराध की हिंसा का नहीं। अतः उसका अहिंसा व्रत, साधु के महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत अर्थात् छोटा व्रत कहाता है।

इसी प्रकार श्रावक स्थूल असत्य को, स्थूल स्तेय को, स्थूल अब्रह्म को और स्थूल परिग्रह को छोड़ सकता है; सूक्ष्म का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि वैसा करने पर उसका गृहस्थ-जीवन चल सकना कठिन है। चतुर्थ व्रत के रूप में यदि वह पुरुष है, तो स्व-दार-सन्तोष-व्रत और यदि वह नारी है, तो स्व-पति-सन्तोष-

व्रत ग्रहण करती है। पञ्चम व्रत के रूप में वह अपने परिग्रह का परिमाण निर्धारित करता है।

तीन गुणव्रत

गुण-व्रत का अर्थ है – अहिंसा आदि पांच मूल व्रतों को पुष्ट करने वाले और उनमें अभिवृद्धि करने वाले नियम।

चार दिशा, चार विदिशा और ऊर्ध्वदिशा तथा अधोदिशा – इन दस दिशाओं का परिमाण निर्धारित करना, ताकि सीमा से बाहर, मर्यादा से बाहर गमन और आगमन न हो। यह दिशा परिमाण गुणव्रत है, इसमें क्षेत्र की मर्यादा की जाती है।

उपभोग अर्थात् एक बार भोग के काम में आने वाली खाने-पीने आदि की वस्तु और परिभोग अर्थात् बार-बार भोग के काम में आने वाली पहनने-ओढ़ने आदि की वस्तु – इनकी मर्यादा करना। जैसे आनन्द श्रावक ने छब्बीस बोल की मर्यादा की थी। यह उपभोग-परिभोग परिमाण गुणव्रत है।

श्रावक प्रयोजन के लिए तो हिंसा आदि करता है, परन्तु बिना प्रयोजन के हिंसा आदि का उसको परित्याग होता है। अतः अनर्थदण्ड का, अर्थात् बिना प्रयोजन के हिंसा आदि का त्याग, अनर्थदण्ड-विरमण गुणव्रत है।

चार शिक्षा व्रत

शिक्षा का अर्थ है, साधु-जीवन का अभ्यास। धीरे-धीरे साधु-जीवन योग्य साधना की ओर अग्रसर होना, इस शिक्षा व्रत का मुख्य उद्देश्य है।

नित्य प्रति उभय काल में सामायिक करना, सामायिक शिक्षा व्रत है। दिशाव्रत में जो क्षेत्र-मर्यादा की थी, उसको और अधिक सीमित करना, देशावकाशिक शिक्षा व्रत है। पर्व दिवसों में पौषध व्रत एवं दयाव्रत करना पौषध शिक्षा व्रत है। और द्वार पर आए साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि आदि अतिथि को सम्मान पूर्वक यथाशक्ति दान देना, अतिथि-संविभाग शिक्षा व्रत है। ये चार शिक्षा व्रत हैं। इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत हैं।

●●●

बोल तेईसवाँ : साधु के पाँच महाव्रत

1. अहिंसा महाव्रत
2. सत्य महाव्रत
3. अस्तेय महाव्रत
4. ब्रह्मचर्य महाव्रत
5. अपरिग्रह महाव्रत

व्याख्या

साधु को शास्त्र में 'श्रमण' कहा गया है। अतः साधु-धर्म को 'श्रमण-धर्म' कहना उचित ही है। श्रावक-धर्म से आगे की कोटि श्रमण-धर्म की है। साधु होने के लिए केवल बाह्य वेष बदल लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके लिए जीवन को ही बदलना पड़ता है। बाने के साथ बान भी बदलनी पड़ती है, तभी सच्ची साधुता प्राप्त होती है।

संसार में पाँच महापाप हैं – हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्मचर्य और परिग्रह (आसक्ति)।

साधु इन पांचों महापापों का त्याग तीन करण और तीन योग से करता है। करण का अर्थ है – कृत, कारित और अनुमत। अर्थात् करना, कराना और अनुमोदन करना। योग का अर्थ है – मन, वचन और काय।

साधु इन पाँचों महापापों को न स्वयं करता है, न दूसरों से करवाता है, और न करने वालों का अनुमोदन करता है – मन से, वचन से और काय से। अतः साधु के इन व्रतों को शास्त्र में महाव्रत कहा गया है।

महाव्रत का अर्थ है – बड़ी प्रतिज्ञा, महान प्रतिज्ञा, पूर्ण प्रतिज्ञा। उसमें किसी भी प्रकार की स्थूल एवं सूक्ष्म की छूट नहीं होती।

साधु पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह का परिपालन करता है। अतः उसकी प्रतिज्ञा को महाव्रत कहना उचित ही है।

●●●

बोल चौबीसवाँ : भंग 49

अंक 11, भंग नौ – एक करण, एक योग से कथन

1. करूँ नहीं मन से
2. करूँ नहीं वचन से
3. करूँ नहीं काय से
4. कराऊँ नहीं मन से
5. कराऊँ नहीं वचन से
6. कराऊँ नहीं काय से
7. अनुमोदूँ नहीं मन से
8. अनुमोदूँ नहीं वचन से
9. अनुमोदूँ नहीं काय से

अंक 12, भंग नौ – एक करण, दो योग से कथन

1. करूँ नहीं मन से, वचन से
2. करूँ नहीं मन से, काय से
3. करूँ नहीं वचन से, काय से
4. कराऊँ नहीं मन से, वचन से
5. कराऊँ नहीं मन से, काय से
6. कराऊँ नहीं वचन से, काय से
7. अनुमोदूँ नहीं मन से, वचन से
8. अनुमोदूँ नहीं मन से, काय से
9. अनुमोदूँ नहीं वचन से, काय से।

अंक 13, भंग तीन – एक करण, तीन योग से कथन

1. करूँ नहीं मन से, वचन से, काय से
2. कराऊँ नहीं मन से, वचन से, काय से
3. अनुमोदूँ नहीं मन से, वचन से, काय से

अंक 21, भंग नौ – दो करण, एक योग से कथन

1. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, मन से
2. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, वचन से
3. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, काय से
4. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से
5. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, वचन से
6. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, काय से
7. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से
8. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, वचन से
9. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, काय से।

अंक 22, भंग नौ – दो करण, दो योग से कथन

1. करूँ नहीं कराऊँ नहीं, मन से, वचन से
2. करूँ नहीं कराऊँ नहीं, मन से, काय से
3. करूँ नहीं कराऊँ नहीं, वचन से, काय से
4. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से
5. करूँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से, काय से
6. करूँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, वचन से, काय से
7. कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से
8. कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से, काय से
9. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, वचन से, काय से।

अंक 23, भंग तीन – दो करण, तीन योग से कथन

1. करूँ नहीं कराऊँ नहीं, मन से, वचन से, काय से

2. करूँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से, काय से
3. कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से, काय से।

अंक 31, भंग तीन – तीन करण, एक योग से कथन

1. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से
2. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, वचन से
3. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, काय से

अंक 32, भंग तीन – तीन करण, दो योग से कथन

1. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से
2. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से, काय से
3. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, वचन से, काय से

अंक 33, भंग एक – तीन करण, तीन योग से कथन

1. करूं नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं, मन से, वचन से, काय से।

सेरी यन्त्र

अंक	11	12	13	21	22	23	31	32	33
भंग	9	9	3	9	9	3	3	3	1
करण	1	1	1	2	2	2	3	3	3
योग	1	2	3	1	2	3	1	2	3
सर्व भंग	9	18	21	30	39	42	45	48	49

81 सेरी में से रुकने वाली सेरी क्रमशः

9	18	27	18	36	54	27	54	81

व्याख्या

शास्त्र में दो प्रकार की परिज्ञा अर्थात् बुद्धि कही गई है – ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञपरिज्ञा से पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है कि कौन पदार्थ कैसा है? हेय है या उपादेय? और प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय वस्तु का त्याग और उसकी पद्धति का विचार है। प्रस्तुत बोल में प्रत्याख्यान-परिज्ञा का स्वरूप बताया है, कि हेय वस्तु का त्याग कैसे करना चाहिए?

पाप का परित्याग जीवन की साधारण घटना नहीं है, कि किसी हेय वस्तु को छोड़ दिया और बस त्याग हो गया। इस प्रकार के त्याग तो मिथ्यादृष्टि जीव भी करते रहते हैं। किन्तु वह त्याग प्रत्याख्यान कोटि में नहीं आता। प्रत्याख्यान कोटि के लिए आवश्यक है कि कृत, कारित और अनुमत तथैव मन, वचन और काय के स्वरूप का तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों का गम्भीरता से विचार किया जाए। यही विचार प्रस्तुत बोल में किया गया है।

भंग का अर्थ है – विकल्प, प्रकार एवं विभाग रूप रचना-विशेष। इस अर्थ के अनुसार प्रत्याख्यान के 49 भंग हैं। अन्तिम 33 के अंक का भंग पूर्ण है, क्योंकि वह नवकोटि प्रत्याख्यान है। उसमें किसी भी प्रकार के अप्रत्याख्यान के अंश की छूट नहीं है। शेष भंग अपूर्ण हैं, अर्थात् उनमें किसी न किसी रूप में अप्रत्याख्यानांश की छूट रह जाती है।

●●●

बोल पच्चीसवाँ : चारित्र पाँच

1. सामायिक चारित्र **2. छेदोपस्थापन चारित्र**
3. परिहार विशुद्धि चारित्र **4. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र**
5. यथाख्यात चारित्र

व्याख्या

आत्मा को निज स्वरूप में स्थित रखने का प्रयत्न चारित्र है। चारित्र, विरति, संयम और संवर ये सब एकार्थक शब्द हैं। चारित्र का अर्थ है – अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। तत्वत: आस्रव के निरोध को चारित्र कहा जाता है।

शास्त्रीय भाषा में चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से, उपशम से और क्षयोपशम से होने वाले विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं। अथवा आत्मा का सावद्य योग से निवृत्त होकर निरवद्य योग में प्रवृत्त होना भी चारित्र कहा जाता है। चारित्र के सामायिक आदि पाँच भेद हैं।

सामायिक चारित्र

सामायिक अर्थात् सम-भाव। सम भाव की साधना को

सामायिक चारित्र कहते हैं। अथवा सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग और निरवद्य प्रवृत्ति का आसेवन सामायिक चारित्र है।

छेदोपस्थापन चारित्र

जिस चारित्र में पूर्व गृहीत चारित्र-पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थापन अर्थात् आरोपण होता है, उसे छेदोपस्थापन चारित्र कहते हैं। यह चारित्र पूर्व चारित्र को छेदन करके आता है, अतः इसे छेदोपस्थापन कहते हैं।

उक्त चारित्र के दो भेद हैं – निरतिचार और सातिचार। मध्य के 22 तीर्थंकरों में से जब 23वें तीर्थंकर के मुनि या आर्याएँ, 24वें तीर्थंकर के शासन में सम्मिलित होते हैं, तब सामायिक चारित्र का छेदन कर महाव्रतारोपण रूप छेदोपस्थापन चारित्र ग्रहण करते हैं, यह निरतिचार अर्थात् दोष-रहित स्थिति में छेदोपस्थापन चारित्र का ग्रहण है। इसी प्रकार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण किया जाता है, अनन्तर अमुक काल के बाद, जो बड़ी दीक्षा के रूप में महाव्रतारोपण किया जाता है, यह भी निरतिचार छेदोपस्थापन चारित्र है। और जब किसी दोष-विशेष के कारण पूर्व दीक्षा-पर्याय का छेदन कर प्रायश्चित्त रूप में आत्मशुद्धि के लिए पुनः महाव्रतारोपण की क्रिया की जाती है, वह सातिचार छेदोपस्थापन चारित्र है।

परिहार विशुद्धि चारित्र

जिस चारित्र में परिहार नामक विशेष तप किया जाता है,

उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। परिहार तप से आत्मा की विशेष शुद्धि होती है। परिहार अर्थात् संघ से पृथक् होकर विशिष्ट तपस्या से आत्मा की शुद्धि करना, परिहार विशुद्धि है।

परिहार नामक तप की विधि संक्षेप में इस प्रकार है–

"नौ साधुओं का गण परिहार तप प्रारम्भ करता है। इनमें से चार तप करते हैं, और चार उनकी वैयावृत्य (सेवा) करते हैं, तथा एक उनके गुरु (निर्देशक) रूप में रहता है।"

पहले चार साधु छह मास तक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला तथा आयंबिल आदि तप करते हैं। फिर सेवा करने वाले छह मास तक तप करते हैं, और तप करने वाले सेवा करते हैं। फिर गुरु पद पर रहा हुआ साधु भी छह मास तक तप करता है। इस प्रकार अठारह मास में इस परिहार तप का कल्प पूर्ण होता है।

सूक्ष्म सम्पराय चारित्र

सम्पराय का अर्थ कषाय होता है। कषाय चार हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। परन्तु इस चारित्र में केवल सूक्ष्म संज्वलन रूप लोभ कषाय ही शेष रह जाता है। अतः इसको सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र दशवें गुणस्थान का है।

यथाख्यात चारित्र

सर्वथा विशुद्ध चारित्र को अर्थात् अतिचार-रहित चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इसमें कषाय का उदय नहीं रहता। अतः

यह विशुद्ध चारित्र है। अथवा कषाय-मुक्त साधु का चारित्र यथाख्यात चारित्र है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक का चारित्र यथाख्यात चारित्र है। यद्यपि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय की (सूक्ष्म लोभ कषाय की) सत्ता रहती है, तथापि वहाँ उसका उदय नहीं है। अतः यह भी यथाख्यात चारित्र (विशुद्धतम चारित्र) कहा जाता है।

●●●

नोट्स

श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस
नई दिल्ली
के अंतर्गत संचालित सेवारत योजनाएँ

- **जीवन प्रकाश योजना**

- **मानव सेवा योजना**

- **जीव दया योजना**

- **ज्ञान प्रकाश योजना**

- **वैय्यावच्च योजना**

- **अल्पसंख्यक योजना**

- **विहारधाम योजना**

श्रुत-संवर्धन समिति के उद्देश्य

- स्थानकवासी परम्परा के प्राचीन जैन पाण्डुलिपि-भण्डारों का वर्गीकरण, केन्द्रीय रूप से संग्रहण-संरक्षण, सूचिकरण एवं डिजिटाइजेशन करना तथा केन्द्रीय अभिलेखागार की स्थापना करना।
- स्थानकवासी परम्परा के मान्य आगमों एवं साहित्य का प्रकाशन, वितरण एवं केन्द्रीय रूप से सन्दर्भ पुस्तकालय समायोजित करना।
- साधु एवं श्रावकों के उपयोगी धार्मिक उपकरणों व स्थानकवासी जैन साहित्य की केन्द्रीय कार्यालय पर उपलब्धता एवं राष्ट्र स्तर पर वितरण।

श्रुत-संवर्धन समिति
नई दिल्ली